औपनिवेशिक काल में हिंदी भाषा संबंधी विमर्श

AUPANIVESHIK KAAL MEIN HINDI BHASHA
SAMBANDHI VIMARSH

[मिजोरम विश्वविद्यालय, आईजोल के हिंदी विषय में डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी (पीएच.डी.) की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबंध]

A THESIS SUBMITTED IN PARTIAL FULFILLMENT OF THE REQUIREMENTS FOR THE DEGREE OF DOCTOR OF PHILOSOPHY

प्रभंजन कुमार झा

PRABHANJAN KUMAR JHA
MZU REGN. NO: 1802352
Ph.D. REGN. NO.: MZU/Ph.D./ 1276 of 18.07.2018

हिंदी विभाग
मानविकी एवं भाषा संकाय
DEPARTMENTOF HINDI
SCHOOL OF HUMANITIES AND LANGUAGES

जून, 2023

JUNE, 2023

औपनिवेशिक काल में हिंदी भाषा संबंधी विमर्श

AUPANIVESHIK KAAL MEIN HINDI BHASHA
SAMBANDHI VIMARSH

प्रस्तुतकर्ता

प्रभंजन कुमार झा

हिंदी विभाग

By

PRABHANJAN KUMAR JHA

DEPARTMENTOF HINDI

शोध-निर्देशक

प्रो. संजय कुमार

SUPERVISOR
PROF. SANJAY KUMAR

मिजोरम विश्वविद्यालय, आईजोल के मानविकी एवं भाषा संकाय के अंतर्गत
हिंदी विषय में डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी (पीएच.डी.) की उपाधि के
लिए अपेक्षित आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रस्तुत शोध प्रबंध
Submitted in partial fulfillment of the requirement of the Degree
of Doctor of Philosophy in Hindi of Mizoram University, Aizawl

प्रो. संजय कुमार
आचार्य
हिंदी विभाग
मिज़ोरम विश्वविद्यालय
आईजोल-796004

मिज़ोरम विश्वविद्यालय, आईजोल
Mizoram University, Aizawl
A Central University
(Accredited by NAAC with 'A' Grade)

Prof. Sanjay Kumar
Professor
Department of Hindi
Mizoram University,
Aizawl-796004

Mobile No. - 09402112143; 09774517465; E-mail: sanjaykumarmzu@gmail.com ; Website : www.mzu.edu.in

दिनांक: 20.06.2023

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि **प्रभंजन कुमार झा** ने मेरे निर्देशन में मिज़ोरम विश्वविद्यालय, आईजोल की **डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी (पीएच.डी.-हिंदी)** की उपाधि हेतु '**औपनिवेशिक काल में हिंदी भाषा संबंधी विमर्श** ' विषय पर शोध-कार्य किया है। प्रस्तुत शोधकार्य शोधार्थी की अपनी निजी गवेषणा का फल है। यह इनका मौलिक कार्य है। जहाँ तक मेरी जानकारी है, प्रस्तुत शोध-प्रबंध या इसके किसी भी अंश को किसी विश्वविद्यालय या संस्थान में किसी प्रकार की उपाधि हेतु अद्यावधि प्रस्तुत नहीं किया गया है।

मैं प्रस्तुत शोध-प्रबंध को मिज़ोरम विश्वविद्यालय, आईजोल की **डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी (पीएच.डी.-हिंदी)** की उपाधि हेतु मूल्यांकन के लिए प्रस्तुत करने की संस्तुति करता हूँ।

(प्रो. संजय कुमार)
शोध-निर्देशक

हिंदी विभाग
मिज़ोरम विश्वविद्यालय
आईजोल

जून, 2023

घोषणापत्र

मैं **प्रभंजन कुमार झा** एतद्वारा घोषित करता हूँ कि प्रस्तुत शोध-प्रबंध की विषय-सामग्री मेरे द्वारा किए गए शोध-कार्यों का सुपरिणाम है। इस शोध-सामग्री के आधार पर न तो मुझे और जहाँ तक मुझे ज्ञात है, न किसी अन्य को कोई उपाधि प्रदान की गई है और न ही यह शोध-प्रबंध मेरे द्वारा कोई अन्य उपाधि प्राप्त करने के लिए किसी अन्य विश्वविद्यालय या संस्थान में प्रस्तुत किया गया है। इस शोध-प्रबंध लेखन के दौरान जिन ग्रंथों की सहायता ली गयी है उसे समुचित रूप से उद्धृत किया गया है।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध मिज़ोरम विश्वविद्यालय, आईजोल के सम्मुख हिंदी विषय में **डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी (पीएच.डी.-हिंदी)** की उपाधि के लिए प्रस्तुत किया जाता है।

(प्रभंजन कुमार झा)
शोधार्थी

(प्रो. सुशील कुमार शर्मा)
अध्यक्ष

(प्रो. संजय कुमार)
शोध-निर्देशक

प्राक्कथन

प्रत्येक कालखंड में किसी भी राष्ट्र की एक भाषा नीति होती है। यह तथ्य प्राचीन भारत से लेकर इक्कीसवीं शताब्दी तक के इतिहास में एक सार्वभौमिक सत्य के रूप में मिलता है। कुछ भाषाशास्त्री भाषा नीति को भाषा समस्या के समाधान की राजनैतिक और प्रशासनिक गतिविधि मानते हैं, जबकि कुछ अन्य विद्वानों ने इसे एक प्रकार का भाषायी उपचार माना है। समग्रतः किसी भी देश के शासन-प्रशासन द्वारा वहाँ की भाषा तथा भाषा के प्रयोग क्षेत्रों को लेकर जो भी विचार-विमर्श, निर्णय आदि लिए जाते हैं। उन्हें उस देश की भाषा नीति कहा जा सकता है।

भारत में प्राचीन काल से राजभाषा के रूप में संस्कृत को महत्व मिलता रहा है। आर्य सभ्यता में संस्कृत को देववाणी कहा गया है। इस काल में राजभाषा और जनभाषाओं में कोई समानता नहीं थी। जनता शासक और राजभाषा को जितना कम समझे उतना ही उनके लिए श्रेयस्कर था। महावीर और गौतमबुद्ध ने छठी शताब्दी ईसापूर्व में प्राकृत और पाली को अपने धर्म प्रचार का माध्यम बनाकर शासकों की भाषानीति को एक नयी दिशा दी। इस काल में व्यापकता के लिए जनभाषा के महत्व को स्वीकार किया गया, लेकिन संस्कृत, राजभाषा, दरबार और साहित्य एवं शिक्षा की भाषा बनी रही। वास्तव में, मुस्लिम प्रभुत्व से पहले संस्कृत ही एक मात्र ऐसी भाषा थी जिसे राजभाषा और अखिल भारत की संपर्क भाषा की प्रतिष्ठा प्राप्त थी। एक तरह से संस्कृत राष्ट्र भाषा भी थी।

मुस्लिम शासन काल में उसके प्रभुत्व क्षेत्र में संस्कृत का स्थान राजभाषा के रूप में अरबी-फारसी ने ले लिया। अरबी मुसलमानों की धार्मिक भाषा थी। तुर्की, उजबेकी, पश्तो आदि भाषाओं के बोलने वालों ने अरबी-फारसी को अपने मातृभाषा से ऊपर स्थान दिया। दिल्ली के सुल्तानों और मुगल बादशाहों ने फारसी को राजभाषा का पद

प्रदान किया। इस दौर में शिक्षा, साहित्य और दरबार की भाषा फारसी ही रही, किंतु अन्य भाषाओं के महत्व को नजरअंदाज नहीं किया गया। प्रशासनिक कार्यों के लिए हिंदी और क्षेत्रीय भाषाओं का निरंतर प्रयोग होता रहा। प्रांतीय शासकों ने अपनी धार्मिक और सांस्कृतिक भाषा (संस्कृत या फारसी) के अतिरिक्त अपने-अपने क्षेत्र की क्षेत्रीय भाषाओं को भी विकसित किया। मध्यकाल में भाषा-नीति की संकल्पना अधिक व्यावहारिक थी। इस काल में संपर्क भाषा के रूप में हिंदुस्तानी का विकास एक विशेष घटना है। इस समय देशज भाषाओं के साथ अरबी, फारसी, तुर्की आदि भाषाओं के मिश्रण से उर्दू, रेख्ता, हिंदुस्तानी और दक्खिनी हिंदी का विकास समय की आवश्यकता के रूप में सामने आया। प्रारंभ में यह बाजार की भाषा रही, किंतु धीरे-धीरे राजकाज, साहित्य और शिक्षा की भाषा भी बन गयी। मध्यकाल में शासकों की भाषा नीति में अधिक लचीलापन दिखायी देता है। संपर्क भाषा के रूप में उर्दू-हिंदी को मान्यता दिया जाना इसका प्रमाण है।

अंग्रेजों के आगमन - के बाद भारत की भाषा-नीति में पुनः परिवर्तन का दौर आरंभ होता है। अंग्रेजों की भाषा-नीति आवश्यकताओं से ही निर्देशित नहीं होती थी, अपितु उसका निर्धारण राजनैतिक कारणों से भी होता था। 1800 ई. में लॉर्ड वेलेजली ने कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की, जिसका उद्देश्य यूरोप से भारत आने वाले अंग्रेज अफसरों को भारतीय भाषाओं का प्रशिक्षण देना था। जिस समय अंग्रेजों ने हिंदुस्तान में अपनी सत्ता कायम की उस समय यहाँ की राजभाषा ईस्ट इंडिया कम्पनी सरकार ने 1837ई. तक फारसी को बनाए रखा। 1836ई. में लॉर्ड ऑकलैंड और उनकी काउंसिल ने निर्णय लिया कि न्यायिक और राजस्व मुकदमों में कार्यवाही लोगों की जुबान में होगी, न कि फारसी में। इस तरह 1837 ई. के 29 वें

एक्ट के द्वारा फारसी का प्रयोग खत्म कर दिया गया। 1844 ई. में सरकारी नौकरियों के लिए अंग्रेजी का ज्ञान आवश्यक योग्यता के रूप में निर्धारित कर दिया गया।

प्रस्तुत अध्ययन का काल खंड 1800 ई. से लेकर 1930ई. के बीच निश्चित किया गया है। शोध- प्रबंध में पाँच अध्याय हैं, जिनके अंतर्गत औपनिवेशिक काल में हिंदी भाषा संबंधी विमर्श का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

पहला अध्याय : 'औपनिवेशिक संस्थानों में हिंदी भाषा संबंधी विमर्श का स्वरूप' है। प्रस्तुत अध्याय में उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भाषा-चिंतन का परिदृश्य कैसा था और इसकी पृष्ठभूमि क्या थी इसका विस्तारपूर्वक विवेचन किया गया है। इस अध्याय में औपनिवेशिक संस्थानों में भाषा विमर्श की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के अलावा ईसाई मिशनरियों, ईस्ट इंडिया कम्पनी तथा फोर्ट विलियम कॉलेज की भाषा-नीति की विस्तृत विवेचना की गयी है।

दूसरा अध्याय : 'औपनिवेशिक काल में हिंदी भाषा संबंधी विमर्श का जातीय स्वरूप' है। इस अध्याय में औपनिवेशिक काल में हिंदी भाषा संबंधी विमर्श के जातीय नजरिये का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत अध्याय में सर सैयद अहमद खांन, राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद', राजा लक्ष्मण सिंह तथा भारतेंदु मंडल के रचनाकारों का भाषा-चिंतन सामने आता है। इसके अलावा जातीय संस्थाओं के तौर पर आर्य समाज एवं नागरी प्रचारिणी सभा की भाषा-नीति की भी विवेचना प्रस्तुत की गयी है।

तीसरा अध्याय : 'उन्नीसवीं सदी के उतरार्द्ध में हिंदी भाषा संबंधी विवाद' है। प्रस्तुत अध्याय में उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध हिंदी भाषा संबंधी विवाद का विवेचन किया गया है। इस अध्याय में हिंदी उर्दू और हिंदुस्तानी के बीच के टकराहट का

निरूपण किया गया है। साथ ही, हिंदी आंदोलन, खड़ी बोली आंदोलन एवं ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली हिंदी के बीच हुए विवाद की विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की गयी है।

चौथा अध्याय: 'द्विवेदी युगीन हिंदी भाषा संबंधी विमर्श' है। प्रस्तुत अध्याय में महावीर प्रसाद द्विवेदी का भाषा चिंतन की विवेचना की गयी है तथा मैथिलीशरण गुप्त का भाषा-चिंतन द्विवेदी युगीन हिंदी भाषा संबंधी विमर्श की रचनात्मक अभिव्यक्ति है।

पाँचवा अध्याय : 'छायावाद युगीन हिंदी भाषा संबंधी विमर्श' है। प्रस्तुत अध्याय में छायावाद युग में हिंदी भाषा संबंधी विमर्श का विवेचन किया गया है। इसके अंतर्गत छायावादी कवियों, प्रेमचंद तथा महात्मा गांधी का भाषा चिंतन प्रस्तुत किया गया है।

'उपसंहार' के अंतर्गत शोध-प्रबंध का निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है। अंत में, **'संदर्भ सूची'** के अंतर्गत शोध-प्रबंध में प्रयुक्त संदर्भ ग्रंथ और पत्र-पत्रिकाओं तथा अभिलेखागारीय सामग्री की सूची वर्णक्रमानुसार प्रस्तुत की गयी है। इन सभी सामाग्रियों का उपयोग प्रस्तुत शोध कार्य में किया गया है।

प्रस्तुत शोध कार्य का उद्देश्य औपनिवेशिक काल में हिंदी भाषा संबंधी विमर्श को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष में विवेचित करना रहा है। इस क्रम में भाषा विवाद की उत्पत्ति, व्याप्ति एवं प्रभाव को भी विश्लेषित किया गया है। इस हेतु उन्नीसवीं सदी के हिंदी साहित्यकारों व पत्रकारों की हिंदी भाषा संबंधी विवाद में भूमिका का निष्पक्ष एवं तटस्थ दृष्टिकोण से विवेचन एवं मूल्यांकन किया गया है। ब्रिटिश सरकार की भाषा-नीति को समझने के लिए वुड डिस्पैच, हंटर आयोग और हिंदी रिजोल्यूशन

आदि विश्लेषण किया गया। ब्रिटिश सरकार की भाषा-नीति संबंधी सामग्री मुख्य रूप से राष्ट्रीय अभिलेखागार, दिल्ली तथा राजकीय अभिलेखागार उत्तर प्रदेश से ली गयी है।

प्रस्तुत शोध कार्य के दौरान मैंने मिजोरम विश्वविद्यालय पुस्तकालय; राष्ट्रीय पुस्तकालय, कलकत्ता; हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग; नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना; बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना; शारदा सदन पुस्तकालय, वैशाली; अयोध्या प्रसाद खत्री स्मृति समिति, मुजफ्फरपुर; दिल्ली विश्वविद्यालय केन्द्रीय पुस्तकालय, दिल्ली; अंबेडकर केंद्रिय पुस्तकालय, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली; जामिया मिल्लिया इस्लामिया पुस्तकालय, नयी दिल्ली; साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली; प्रधानमंत्री संग्राहलय पुस्तकालय (तीन मूर्ति पुस्तकालय), नयी दिल्ली आदि पुस्तकालयों व संस्थानों से शोध से संबंधित अनेक पुस्तकें प्राप्त हुई हैं। इन सभी संस्थाओं के प्रबंधकर्ता अधिकारियों एवं कर्मचारियों के प्रति मैं आभार प्रकट करता हूँ।

पीएचडी शोध पाठक्रम में पंजीकरण से लेकर शोध प्रबंध की पूर्णता तक निरंतर उत्साह वर्धन एवं हर प्रकार के सहयोग के लिए मैं अपने आदरणीय शोध निर्देशक प्रो. संजय कुमार का हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ। उनके उत्साहवर्धन, स्नेह और समय-समय पर दिये गए अमूल्य सुझावों के परिणामस्वरूप ही यह शोध कार्य सम्पन्न हो सका है। मिज़ोरम विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के आदरणीय विभागाध्यक्ष प्रो. सुशील कुमार शर्मा एवं प्राध्यापक डॉ. सुषमा कुमारी, डॉ. अमिष वर्मा तथा डॉ.

अखिलेश कुमार शर्मा के प्रति भी मैं अपना आभार प्रकट करता हूँ, जिनका निरंतर सहयोग मुझे मिला।

अंत में मैं अपने सभी सहयोगियों, शुभ चिंतकों को आभार प्रकट करता हूँ जिन्होंने प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप से मेरे शोध कार्य में सहयोग दिया है तथा इसकी पूर्णता में भागीदार रहे हैं।

प्रभंजन कुमार झा

विषयानुक्रमनिका

पृष्ठ संख्या

प्रमाण पत्र

घोषणा पत्र

प्राक्कथन **i-vi**

विषयानुक्रमणिका **vii-viii**

अध्याय एक - औपनिवेशिक संस्थानों में हिंदी भाषा संबंधी विमर्शका स्वरूप

1 - 50

1.1 ईसाई मिशनरियों की भाषा-नीति

1.2 ईस्ट इंडिया कम्पनी की भाषा - नीति

1.3 फोर्ट विलियम कॉलेज की भाषा-नीति

अध्याय दो - औपनिवेशिक काल में हिंदी भाषा संबंधी विमर्श का जातीय स्वरूप

51 - 124

2.1 सर सैयद अहमद खान का भाषा–चिंतन

2.2 राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' का भाषा–चितन

2.3 राजा लक्ष्मण सिंह का भाषा–चिंतन

2.4 भारतेंदु मंडल काभाषा–चिंतन

2.5 आर्य समाज की भाषा– नीति

2.6 नागरी प्रचारिणी सभा की भाषा-नीति

अध्याय तीन - उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हिंदी भाषा संबंधी विवाद **125 - 149**

3.1 हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी का विवाद और हिंदी आंदोलन

3.2 अयोध्या प्रसाद खत्री और खड़ी बोली का आंदोलन

3.3 ब्रज भाषा और खड़ी बोली हिंदी का विवाद

अध्याय चार - द्विवेदी युगीन हिंदी भाषा संबंधी विमर्श **150 - 180**

4.1 महावीर प्रसाद द्विवेदी का भाषा–चिंतन

4.2 मैथिलीशरण गुप्त का भाषा–चिंतन

अध्याय पाँच - छायावाद युगीन हिंदी भाषा संबंधी विमर्श **181 - 204**

5.1 छायावादी कवियों का भाषा-चिंतन

5.2 प्रेमचंद का भाषा-चिंतन

5.3 महात्मा गाँधी का भाषा-चिंतन

उपसंहार **205 - 214**

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची **215 - 230**

शोधार्थी का जीवनवृत्त **231**

शोधपत्र प्रकाशन

शोधार्थी का विवरण **232**

अध्याय : एक

औपनिवेशिक संस्थानों में हिंदी भाषा सम्बन्धी विमर्श का स्वरूप

औपनिवेशिक संस्थानों में हिंदी भाषा की स्थिति जानने के लिए हमें उस समय के भाषा सम्बन्धी विमर्श को ठीक से समझना पड़ेगा। भारत में भाषा को लेकर विवाद-विमर्श होते रहे हैं। इसके स्वरुप में देश और काल के अनुसार परिवर्तन होता रहा है। इसके केंद्र में भाषा के अस्तित्व का संघर्ष निहित रहा है। जिसमें एक समूह द्वारा दूसरे समूह पर प्रभुत्व स्थापित करके अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने की कोशिश लगातार होती रहीं। जब किसी देश या राज्य में दो या दो से अधिक भाषाएँ लोक-व्यवहार में प्रचलित रहती हैं और उन भाषाओं के समर्थकों द्वारा अपनी भाषाओं के समर्थन में परस्पर विरोधी दावे प्रस्तुत किए जाते हैं तब ऐसी स्थिति ही भाषा विवाद को जन्म देती है। इस प्रकार भाषा विवाद के विविध क्षेत्र हो सकते हैं- राजभाषा बनने की प्रक्रिया, राष्ट्रभाषा की माँग, संपर्क भाषा, भाषा-नीति में शिक्षा का माध्यम, भाषा संबंधी साहित्यिक विवाद, विशिष्ट जातियों की जातीय, धार्मिक और सांस्कृतिक भाषा की उर्वर परंपरा आदि।

इतिहास ये बताता है कि कोई समूह अपने सांस्कृतिक पहचान, वैज्ञानिकता, राजनैतिक संरक्षण, ऐतिहासिक गौरव, किसी भाषा के प्रयोक्ताओं की संख्या तथा लिपि आदि को भी भाषा विवाद का विषय बना सकता है। अतः भाषा विवाद का कारण भाषाशास्त्रीय होने के साथ-साथ सामाजिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, साहित्यिक, भौगोलिक, शैक्षिक, जातीय और प्रशासनिक आदि भी हो सकते हैं।

हिन्दुस्तान में भाषा विवाद के अनेक विषय हैं। यह एक विशाल देश होने के कारण अनेक प्रादेशिकता की सीमा में बंटा हुआ है, जिनकी अपनी भाषाएँ हैं और अनेक बोलियाँ हैं। इसलिए यहाँ अनेक भाषाएँ विकसित हुई हैं और उनकी लिपियाँ सहस्राब्दियों का सांस्कृतिक इतिहास स्वयं में समेटे हुए है। भारत में भाषा विवाद की स्थिति पुरानी है। इसकी अनुगूँज समय-समय पर सुनाई देती रही है। वैश्विक परिप्रेक्ष्य में देखें तो भाषा विवाद की स्थिति कमोवेश सब जगह दिखायी पड़ती है। रूस और चीन जैसे देशों में जहाँ इसी प्रकार भाषा विवाद होने की प्रबल संभावनाएँ मौजूद थीं वहाँ की शासन व्यवस्था की दुर्भेद्य कठोरता ने इनकी संभावनाओं को ही लगभग समाप्त कर दिया है। हालांकि जनभावना की शक्ति ने विश्व में अनेक प्रकार के जटिल भाषा विवादों को जन्म दिया है, जिनमें से कुछ राष्ट्रों ने इसे सुगमतापूर्वक सुलझा लिया है तो कुछ राष्ट्रों के लिए यह अस्तित्व का संकट भी बना है। उन्नीसवीं सदी में वैश्विक स्तर पर भाषा विवाद के कई स्वर देखे गए हैं। यह स्वर फ़िजी के हिंदी भाषियों के हो सकते हैं, पाकिस्तान के सिंधी भाषियों के हो सकते हैं, रूस के जर्मन भाषी यहूदियों के हो सकते हैं, पुराने पूर्वी पाकिस्तान के बांग्ला भाषियों द्वारा पश्चिमी पाकिस्तान के उर्दू और पंजाबी भाषियों के प्रभुत्व के विरोध के रूप में स्वतंत्र बांग्लादेश के निर्माण के रूप में अभिव्यक्त हो सकते हैं। इसी स्वर की अभिव्यक्ति उन्नीसवीं सदी के ऑटोमन साम्राज्य में तुर्की के प्रभुत्व के विरुद्ध ग्रीक या मिस्र विद्रोह (अरबी भाषियों द्वारा) के रूप में होती है तथा बीसवीं सदी में तिब्बत में चीन द्वारा सांस्कृतिक एवं भाषा उन्मूलन के विरोध के रूप में देखी जा सकती है। भाषा विवाद और उससे जुड़े संघर्षों ने नये राष्ट्रों का निर्माण कराया है, महान साम्राज्यों का विघटन

कराया है, बड़े-बड़े युद्ध कराये हैं, संधियाँ करायी हैं, संगठन बनवाये हैं, सरकारें बदलवायीं हैं तथा प्रातों और राष्ट्रों की सीमाओं को पुनर्निधारित कराया है। भाषा विवाद प्रकारांतर से मानवीय विकास के साथ-साथ चलने वाली प्रक्रिया है। आरम्भिक समय से ही यह एक ऐसी समस्या रही है जिसे सुलझा पाना सहज नहीं हो सका है। विभिन्न प्रकार की भाषाओं और बोलियों के विकास का कारण मनुष्य के स्वभाव, अभिरूचि, प्रकृति, परम्परा, भौगोलिक परिवेश, धर्म, संस्कार, जातीय स्मृति, आर्थिक स्थिति, साहित्यिक प्रगति, शैक्षिक परिवेश आदि में अन्तर व भिन्न रहा है। इन्हीं कारकों की वजह से भाषा विवाद की शुरूआत होती है। भाषा विवाद अपने बाह्य रूप में भाषा विज्ञान के अध्ययन का विषय है किंतु इसके आंतरिक स्वरूप पर गहराई से विचार करें तो यह समाजशास्त्र के अध्ययन का विषय बन जाता है। विभिन्न भाषा-भाषी अपनी-अपनी भाषा को ही शिक्षा, प्रशासन, न्याय, साहित्य, धर्म और व्यापार का माध्यम बनाना चाहते हैं। उनकी महत्वाकांक्षाएँ जब अन्य भाषा-भाषियों की इसी तरह की आकांक्षाओं के विरोध में खड़ी हो जाती हैं और कोई भी पक्ष आपसी सहकार के लिए तैयार नहीं होता है तो ऐसी परिस्थिति में भाषा विवाद की टकराहट अपने चरम पर होती है। भाषा विवाद का मूल आधार जानने के लिए हमें उस देशकाल से संबंधित परिस्थितियों, परिवेश और तत्कालीन जरूरतों को भी ध्यान में रखना होगा। इसके बिना सही निष्कर्षों तक नहीं पहुँचा जा सकता है। भाषा विवाद किन्हीं दो या दो से अधिक जातियों, वर्गों, समुदायों और धार्मिक सम्प्रदायों के बीच एक राज्य के अंतर्गत अपने अस्तित्व, अस्मिता तथा हितों की रक्षा के लिए अपने प्रतिद्वंद्वी से किया

जाने वाला संघर्ष है। इसका रूप जब केवल बौद्धिक परिचर्चा का होता है तब यह भाषा विज्ञानियों के अध्ययन का विषय होता है। जब भाषा विवाद के कारण दो समाज के अस्तित्व का प्रश्न खड़ा होता है तब यह समाज विज्ञानियों के अध्ययन का विषय बन जाता है। भाषा को लेकर उन्नीसवीं सदी में जो आन्दोलन हुआ उसके निहितार्थ सामाजिक कम राजनैतिक, धार्मिक और जातीय अधिक थें। यही कारण है कि राजनीतिक-धार्मिकता की इस टकराहट ने साम्प्रदायिक संकीर्णता को जन्म दिया, जिसे आज तक नहीं पाटा जा सका।

हिन्दुस्तान में भाषा विवाद की बृहद परंपरा है। अनेक विद्वानों ने इस पर बात करते हुए अलग-अलग राय व्यक्त की है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भारत को 'महामानव समुद्र' की संज्ञा से विभूषित किया है। प्राचीन काल से ही भारत में अनेक जनसमूहों का अनवरत आगमन होता रहा है। समन्वय, सामंजस्य और आदान-प्रदान की अहर्निश प्रक्रिया ने भारत में अनेक मिश्रित सभ्यताओं को विकसित होने का अवसर दिया। इसी कारण यहाँ अनेक भाषाओं का भी विकास हुआ है। वैदिक काल में संस्कृत भाषा को देवभाषा, आर्यभाषा और राजभाषा कहलाने का गौरव प्राप्त था, किंतु वह जनभाषा कभी नहीं बन सकी। उस समय अभिजात्य वर्ग की भाषा संस्कृत और सामान्य जन की भाषा स्थानीय बोलियाँ थीं। आगे चलकर महावीर और गौतम बुद्ध के समय में यही संबंध संस्कृत और पालि एवं प्राकृत के बीच रहा। मध्यकाल में यही समीकरण संस्कृत और मागधी, अर्धमागधी एवं शौरसेनी के बीच रहा। कहने का तात्पर्य यह है कि कोई भी भाषा किसी भी कालखंड में समूचे भारत में प्रचलित नहीं रही। शक, सीथियन,

हूण, मंगोल, ग्रीक, अरब, पर्शियन, तुर्क, अफ़गान, पुर्तगाली, डच, डेनिश, फ्रेंच और अंग्रेज जातियों के क्रमागत भारत में आगमन के बाद भाषाओं की विविधता में लगातार बढ़ोतरी हुई और अनेक तरह की मिश्रित भाषाओं का विकास हुआ। भारत में भाषा विवाद की दृष्टि से मध्यकाल का समय कम मुखर और असंगठित था। इस समय राजनैतिक सत्ता के उत्थान अथवा पतन के साथ सांस्कृतिक और भाषिक स्तर पर भी तनाव और द्वेष की स्थिति उत्पन्न होती रही। इतिहास का यह कालखंड तलवार की ताकत का था, जिसमें हर राजा, सम्राट, सुल्तान और बादशाह मूलतः तानाशाह था। इन तानाशाहों ने अपने-अपने दौर में जिस भाषा को सिर पर चढ़ाया, वह राजभाषा बन गयी। कभी-कभी इन शासकों द्वारा राजभाषा के रूप में ऐसी भाषा का पोषण किया गया, जो न तो उनकी अपनी भाषा थी और न ही जनसाधारण की। उदाहरण के लिए दिल्ली के सुल्तान या तो तुर्क थें या अफ़गान। हालांकि उनकी राजभाषा फ़ारसी थी। स्वयं बाबर की अपनी भाषा चगताई तुर्की थी। उसने अपनी मातृभाषा में तुजुक-ए-बाबरी की रचना की है किंतु बाबर ने भी फ़ारसी को ही राजभाषा का दर्जा दिया। मध्यकाल में भाषाओं के विकास के दो प्रकार मिलते हैं। पहली, राजभाषा के रूप में, जिसका विकास राज्याश्रय में होता रहा और दूसरी जनभाषा के रूप में। जनभाषाएँ बिना राज्याश्रय के भी विकसित होती रहीं। भक्तिकाल में निर्गुण संतों, भक्त कवियों और सूफ़ी साधकों ने बिना राज्याश्रय के ही विभिन्न भाषाओं का विकास किया। यह आश्चर्यजनक है कि तानाशाह शासकों ने भी कभी क्षेत्रीय या आम आदमी की भाषाओं का दमन नहीं किया। इस दौर में मुगलकाल की सल्तनत होने के कारण फ़ारसी का प्रभाव रहा और उर्दू भाषा को विकसित होने में पूरा सहयोग मिला। बाद में ब्रिटिश

हुकूमत ने अंग्रेजी को आधुनिक शिक्षा का माध्यम बनाया और हिंदी और उर्दू के बीच झगड़ा लगा दिया। जिसकी उपज उन्नीसवीं सदी का हिंदी आन्दोलन था।

19 वीं सदी में भारत की परिस्थितियाँ बदल चुकी थीं। भारत में अंग्रेजी सत्ता मजबूती से स्थापित हो चुकी थी। उनके लिए इस देश की अर्द्धविकसित भाषाएँ उपहास मात्र थीं। अंग्रेजों ने ज्यादातर अंग्रेजी भाषा का प्रयोग किया बावजूद इसके उन्हें मजबूरी में ही सही भारतीय भाषाओं को प्रशासन और न्याय में जगह देनी पड़ी। लॉर्ड मैकाले भले ही भारत की भाषाओं और साहित्य की कमियों को लेकर उपहास करते रहें और अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए धन मुहैया कराते रहे परंतु इसके विपरीत कुछ लोग ऐसे भी थें जिनकी नज़र में भारतीय भाषाएँ और साहित्य अनुपम ज्ञान की भंडार थी। भारतीय भाषाओं और ज्ञान के समर्थक प्राच्यवादी कहलाए और इसके विरोधी आंग्लवादी। दो विरोधी विचारधाराओं के टकराहट से इस कालखंड में भाषा विवाद की पृष्ठभूमि तैयार हुई। एलेक्जेण्डर डफ़ ने अपने पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ हिंदुस्तान' में 1768 ई. में ही अंग्रेजों पर यह आरोप लगाया कि “वे भारतीय धर्म, दर्शन और विधाओं का अध्ययन नहीं कर रहे हैं। इस विषय में उनका अज्ञान यह दर्शाता है कि एशिया में साहित्य का अध्ययन हमारा मुख्य उद्देश्य नहीं है।”[1] हालांकि इस विवाद में आंग्लवादियों की ही जीत हुई। लॉड विलियम बेंटिंक ने बंगाल की कमेटी ऑफ पब्लिक इंस्ट्रक्शन को 29 जून, 1829 ई. को लिखे पत्र में यह स्पष्ट निर्देशित किया था कि “भारत के उत्थान के लिए यूरोपियन ज्ञान, आचार और सभ्यता का प्रसार आवश्यक था। ब्रिटिश सरकार की यह घोषित नीति है कि धीरे-धीरे वह अपनी ही भाषा को सार्वजनिक कार्यों के लिए प्रयुक्त किये जाने की दिशा में कार्य करेगी।”[2] इसी

तरह 1854 ई. के चार्ल्स वुड डिस्पैच के पैरा 12 के अंतर्गत यह स्वीकार किया गया था कि अंग्रेजी भाषा व पाश्चात्य शिक्षा का प्रसार भारतीय भाषाओं के हितों की बलि देकर ही किया गया है और यह मत व्यक्त किया गया "हम कई क्षेत्रों में इंग्लिश लेखन और संभाषण के महत्व से इंकार नहीं करते हैं लेकिन हमें भय है कि इन जिलों में देशी भाषाओं के अध्ययन की आवश्यक उपेक्षा की जाने की प्रवृत्ति विकसित हो गई है।"[3] लिपि के सवाल पर भी प्राच्यवादी और आंग्लवादी के बीच मतभेद था। आंग्लवादियों ने बंगाल में भारतीय भाषाओं के लिए भी रोमन लिपि के प्रयोग की बात की थी। रोमन लिपि के पक्ष में उन्होंने तर्क दिया कि यह अधिक स्पष्ट, टंकण तथा लेखन में सस्ती और भारत की एकता के लिए आवश्यक है साथ ही यूरोपियनों को भारतीय भाषाओं पर सरलता से दक्षता हासिल करने के लिए रोमन लिपि जरूरी है और इससे शासक एवं शासित के मध्य दूरी में भी कमी आएगी। किंतु प्राच्यवादियों ने इस तर्क को विचित्र और अतिवादी कहा। उनकी दृष्टि में भारतीय लोग इस विदेशी रोमन लिपि को किसी भी रूप में नहीं अपना सकते थें। राजा राममोहन राय जैसे अंग्रेजी शिक्षा के समर्थकों ने भी प्रशासन और न्याय में देशी भाषाओं के प्रयोग पर बल देना शुरू किया। चूँकि फ़ारसी विदेशी भाषा थी, अंग्रेजों की शासन-सत्ता पूरी तरह से स्थापित हो जाने के बाद अब न तो यह शासक की भाषा थी और न ही शासितों की। इसलिए 18 वीं शताब्दी की स्थिति को 19 वीं शताब्दी में बनाए रखना संभव नहीं था। 1839 ई. में बंगाल में फ़ारसी के स्थान पर बांग्ला प्रतिष्ठित किया गया। इस तरह 19 वीं सदी के चौथे और पाँचवें दशक में, भारत में क्षेत्रीय भाषाओं को राजकाज और शिक्षा के

माध्यम के रूप में मान्यता प्रदान कर दी गई लेकिन हिंदी-उर्दू क्षेत्र में यह समस्या केन्द्रीय रूप में रही।

19 वीं सदी में भाषा विवाद प्राच्यवादियों और आंग्लवादियों के बीच हुआ, जिसमें मुख्य टकराहट भारतीय भाषाओं और अंग्रेजी भाषा के बीच हुई। आगे चलकर इसके स्वरूप में कई विभेद देखे गए। भारतीय भाषाओं के समर्थकों में भी दो पक्ष थें- पहला पक्ष शास्त्रीय भाषाओं का था और दूसरा पक्ष देशी भाषाओं का। इस तरह से यह एक त्रिकोणात्मक भाषा संघर्ष था। इस विवाद में भारत के शास्त्रीय भाषाओं के पक्षकारों की हार हुई। अब विवाद अंग्रेजी और देशी भाषाओं के बीच था, किंतु देशी भाषाओं के आंतरिक कलह से स्थिति पुनः संघर्षपूर्ण हो गई। अब देशी भाषाओं में भी प्रत्येक भाषा स्वयं को श्रेष्ठ साबित करने में लगी हुई थी। मद्रास प्रेसीडेन्सी में तमिल को प्रधानता दी गई, जिसके विरोध में तेलुगू, कन्नड़ और मलयाली भाषाओं ने अपने अधिकार के लिए आंदोलन शुरू कर दिया। बंगाल प्रेसीडेन्सी में बांग्ला भाषा को मुख्य दर्जा दिया गया जिसके विरोध में असमिया और उड़िया भाषियों ने अपनी आवाज बुलंद की। मध्य प्रांत में मराठी भाषी क्षेत्र में हिंदी के स्थान पर मराठी लागू करवाने के प्रयास आरंभ हुए। यमुना और सतलज के बीच के पंजाब में हिंदी के प्रचलन की मांग की गई। बिहार में भोजपुरी, मैथिली और मगही ने स्वतंत्र भाषा के रूप में अपनी पहचान के लिए मांग की। पंजाब के मध्य क्षेत्र में उर्दू के स्थान पर पंजाबी को प्रतिष्ठित किए जाने की आवश्यकता पर बल दिया गया तो उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत में बलूच और पख्तूनी का प्रश्न उठाया गया। हालांकि मुख्य विवाद हिंदी और उर्दू के बीच ही रहा। इस हिंदी-उर्दू विवाद का महत्व इसलिए भी अधिक है क्योंकि इसका क्षेत्र सबसे

बड़ा था साथ ही ये दोनों भाषाएँ समूचे भारत की संपर्क भाषा होने का दावा भी प्रस्तुत कर रही थीं। ये भाषाएँ राजकाज के रूप में अखिल भारत में स्थापित होना चाहती थीं। इसलिए उन्नीसवीं सदी में भाषा संबंधी मुख्य विवाद हिंदी-उर्दू के बीच था। इस विवाद का फायदा अंग्रेज और अंग्रेजी भाषा को हो रहा था। वह बिना किसी विरोध के शिक्षा में अपनी पैठ बनाए जा रही थीं।

1.1 ईसाई मिशनरियों की भाषा-नीति

ईसाई मिशनरियों का भारत की भाषा-नीति में अहम् भूमिका रही है। अगर शब्दकोश में देखें तो 'मिशन' शब्द की उत्पत्ति लैटिन शब्द 'मिस्सियों (Missio) से हुई है, जिसका अर्थ हैं- जीवन-लक्ष्य, प्रतिनिधि मंडल, अभियान, विशेष उद्देश्य, प्रचार-कार्य, विशेष कार्यकलाप, संस्थान आदि। धार्मिक अर्थ में जहाँ यह धर्म-प्रचार कार्य का बोध कराता है वहीं सामाजिक अर्थ में किसी विशेष उद्देश्य, अभियान, कार्य की ओर इंगित करता है; जैसे साक्षरता मिशन, टेक्नॉलाजी मिशन आदि। लैटिन भाषा के ही 'मिस्सुस' या 'मिस्सनारियुस' शब्द से बने 'मिशनरी' शब्द का अर्थ है- प्रेरित या भेजा हुआ प्रचारक, संदेशवाहक आदि। इस तरह आज 'मिशन' और 'मिशनरी' शब्द सामान्यतः ईसाई धर्म-प्रचार और प्रचारक के लिए रूढ़ हो चुका है, किंतु अब इनका प्रयोग सब धर्मों के प्रचार और प्रचारकों के लिए किया जाता है। रामकृष्ण मिशन, इस्कॉन आदि इसी तरह के उदाहरण हैं। उत्तर भारत में ईसाई धर्म का प्रवेश मुगल सम्राट अकबर के शासन काल में हुआ माना जाता है। 28 फरवरी, 1580 ई. को

रूडॉल्फ अक्कावीवा के नेतृत्व में एक मिशनरी दल अकबर के दरबार फतेहपुर सीकरी में पहुँचा। अकबर ने बड़े आदर-सम्मान के साथ मिशनरियों का स्वागत-सत्कार किया और अपने साम्राज्य में धर्मोपदेश और धर्मांतरित करने की पूर्ण स्वतंत्रता दी। 17 अक्टूबर, 1605 ई. में अकबर के निधन के पूर्व ही लाहौर और आगरा आदि स्थानों पर ईसाई समुदायों की स्थापना हो चुकी थी। ईसाई मिशनरियों का प्रत्यक्ष उद्देश्य मानव सेवा और लोक कल्याणकारी कार्यों को करना था, किंतु उनका परोक्ष लक्ष्य समूचे भारत में ईसाई धर्म का प्रसार करना था। ईसाई मिशनरियों ने भारतीय समाज में व्याप्त कमजोरियों, बुराईयों में ही अपने विकास की संभावनाएँ ढूँढ़ी। तत्कालीन भारतीय समाज कई धर्मों, जातियों, पंथों, विश्वासों के आधार पर बंटा हुआ था। इस समय समाज व्यवस्था में सबसे निचले स्तर पर दलित और वनवासी समाज के लोग थें, जो सर्वाधिक कमजोर, अशिक्षित, निर्धन और पीड़ित थें। इनके साथ अस्पृश्यता का व्यवहार किया जाता था। ईसाई मिशनरियों ने इन्हीं लोगों पर अपना ध्यान केंद्रित किया। भारतीय समाज में निकृष्ट जीवन जीने वाले इन लोगों को ईसाई मिशनरियों द्वारा उचित सम्मान और प्रतिष्ठा मिली। ईसाई मिशनरियों का भारत में प्रसार के दो चरण हैं। पहला, ईस्ट इंडिया कम्पनी के आगमन से पूर्व और दूसरा, 1813 ई. में ब्रिटेन की संसद द्वारा बिल्वर फोर्स एक्ट पारित होने के बाद। ईस्ट इंडिया कम्पनी के आगमन से पूर्व ईसाई मिशनरियों की स्थिति अपेक्षाकृत कमजोर थी। 1757 ई. में प्लासी के युद्ध में नवाब सिराजुद्दौला को हराने के बाद समूचे बंगाल पर कम्पनी का अधिकार हो गया था। 1764 ई. में बक्सर की लड़ाई में मुगल सम्राट शाहआलम भी पराजित हुआ।

परिणामस्वरूप मुगल सम्राट के द्वारा बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी अंग्रेजों को दे दी गई। अब कम्पनी की स्थिति उत्तर भारत में मजबूत हो गई थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी भारत में मूलतः व्यापार के उद्देश्य से आई थी और भारतीय समाज में कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहती थी। इसके विपरीत ईसाई मिशनरी मूल रूप से ईसाई धर्म का प्रचार करना चाहते थें। अपने धर्म प्रचार से वे लगातार भारतीय जनता का धर्मांतरण करने का कार्य कर रहे थें। यह सीधे-सीधे भारतीय सामाजिक व्यवस्था में हस्तक्षेप था। इसलिए ईसाई मिशनरियों और ईस्ट इंडिया कम्पनी के बीच सकारात्मक संबंध नहीं था। हालांकि ब्रिटिश संसद से ईसाई मिशनरियों को हमेशा सहयोग मिलता रहा, उन्होंने ईसाई मिशनरियों को भारत में धर्म प्रचार की खुली छूट दी थी। मिशनरियों के धार्मिक उत्साह को देखते हुए ब्रिटिश संसद ने 1798 ई. में अपने कानून में मिशनरी खंड जोड़ा। उत्तर भारत में ईसाई मिशनरियों के इतिहास में एक नया अध्याय 1797 ई. में जुड़ा, जब इंग्लैंड से आए विलियम केरे, मार्शमन और वार्ड नामक मिशनरियों ने श्रीरामपुर मिशन की स्थापना की। ईसाई मिशनरियों द्वारा चलाया गया धार्मिक अभियान एक सांस्कृतिक परिवर्तन था। इस सांस्कृतिक परिवर्तन में भाषा भी एक सशक्त माध्यम थी। इन्हें अपने विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए एक सर्वमान्य भाषा की जरूरत पड़ी। यह सर्वमान्य प्रचलित जन-साधारण की भाषा हिंदी थी। इन्होंने अपने तरीके से हिंदी भाषा का उपयोग ईसाई धर्म प्रचार के लिए किया। सन् 1813 ई. में ब्रिटेन की संसद ने बिल्वर फोर्स एक्ट पारित किया। इस एक्ट के पास होने से ईसाई मिशनरियों को भारत आकर धर्म प्रचार करने की छूट मिली। इससे पूर्व तटस्थता की सोची-समझी कूटनीति के तहत ईस्ट इंडिया कम्पनी ने मिशनरियों को

धर्म प्रचार करने में सहयोग नहीं दिया था। ब्रिटिश संसद द्वारा कम्पनी को यह निर्देश दिया गया कि वह भारत में अपने कारखानों में पादरी रखें और 500 टन या इससे अधिक क्षमता वाले जहाज पर भी ईसाई धर्माधिकारी रखें। यह निर्देश भारत में ईसाई मतों के प्रचार की खुली छूट थी। 1813 ई. के बिल्वर फोर्स एक्ट के तहत ईसाई मिशनरी को वार्षिक तौर पर एक लाख रुपये कला, साहित्य और धर्म प्रचार के लिए मिलना शुरू हुआ। संरक्षण प्राप्त होते ही इंग्लैंड से बड़ी संख्या में प्रोटेस्टैंट ईसाई मिशनरी भारत आए और देश के विभिन्न स्थानों पर मिशन स्थापित किया। इन्होंने उत्तर भारत में आगरा, मिर्जापुर, मुंगेर आदि कई स्थानों पर 'बाइबिल और ट्रैक्ट सोसाइटी', 'स्कूल बुक सोसाइटी' और मुद्रणालयों की स्थापना कर बड़े पैमाने पर बाइबिल और अन्य ईसाई धर्म-पुस्तकों के साथ शैक्षिक एवं सहायक पुस्तकों का प्रकाशन किया। हिंदी भजनों और बाइबिल-गीता गाथाओं के द्वारा उन्होंने धर्म प्रचार कार्य को अधिक उत्साहवर्धक एवं व्यापक बनाया। ईसाई मिशनरियों के हिंदी भजन समूचे भारत में लोकप्रिय हुए। राजकीय संरक्षण प्राप्त होने के बाद ईसाई मिशनरियों द्वारा भारत में प्राथमिक स्तर की शिक्षा के लिए विद्यालय खोले गए और उनमें स्थानीय भाषाओं में शिक्षा देना आरंभ किया गया। ये विद्यालय दान और सहयोग से संचालित होते थे। ईसाई मिशनरी प्रचारक भारतीयों को असभ्य, अज्ञानी, हीन, कमजोर मानते थें। वे स्वयं को श्रेष्ठ मानकर अपनी नज़र में भारतीयों का उद्धार कार्य कर रहे थें। ईसाई शिक्षाविद् ग्रांट का मानना था कि अंग्रेजी शिक्षा और ईसाई धर्म से ही भारतीय समाज उन्नति कर सकता है। ग्रांट की नजर में अंग्रेजी शिक्षा से भारतीयों में अंग्रेजियत यानी पश्चिमी संस्कार का विस्तार होगा। हालांकि ग्रांट के मन में इस

बात का भी डर था कि भारतीय लोग अंग्रेजी पढ़ लेने से शिक्षित हो जाएँगे और अंग्रेजों से नफरत व घृणा आदि करेंगे और गुलामी की दीवार को तोड़कर एक दिन आजाद हो जाएँगे। ब्रिटेन द्वारा राजकीय संरक्षण और शिक्षा तथा भाषा के प्रति ईसाई मिशनरियों के लगाव को देखकर ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भाषा के प्रश्न को महत्व देना शुरू किया। कालांतर में कम्पनी की भाषा नीति में बदलाव हुआ, अब कम्पनी, भाषा और शिक्षा को अपने राजनैतिक हथियार के रूप में उपयोग करने लगी। एक तरफ कलकत्ता मदरसा की स्थापना की गयी, तो दूसरी तरफ बनारस संस्कृत कॉलेज की स्थापना कर भारतीय समाज में तुष्टिकरण द्वारा हस्तक्षेप करने का प्रयास किया गया। ये दोनों संस्थान प्राच्यवादी विचारधारा का प्रसार कर रहे थें, जबकि इसके विपरीत ईसाई मिशनरी अपनी शिक्षा के माध्यम से पाश्चात्य संस्कृति और धर्मान्तरण का प्रसार कर रहे थें। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार, "संवत् 1860 ई. के लगभग हिंदी गद्य की जो प्रतिष्ठा हुई उसका उस समय यदि किसी ने लाभ उठाया तो ईसाई धर्म प्रचारकों ने, जिन्हें अपने मत को साधारण जनता के बीच फैलाना था।"[4] ईसाई मिशनरियों की भाषा-नीति को समझने के लिए उनके द्वारा किए गये ईसाई धार्मिक ग्रंथों के अनुवाद का विश्लेषण करना जरूरी है। श्रीरामपुर मिशन उस समय पादरियों का प्रधान अड्डा था। इसी मिशन के अंतर्गत श्रीरामपुर प्रेस स्थापित किया गया था। बाइबिल का हिंदी अनुवाद विलियम केरे द्वारा किया गया। 1809 ई. में उन्होनें 'न्यू टेस्टामेंट' का हिंदी अनुवाद 'नए धर्म नियम' नाम से प्रकाशित किया और 1818 ई. में समग्र ईसाई धर्म पुस्तक का अनुवाद कार्य पूरा किया। ईसाई मिशनरियों द्वारा किये गए अनुवादों में

मुंशी सदासुखलाल और लल्लूलाल की विशुद्ध भाषा को ही आदर्श माना गया है और उर्दुपन को बिल्कुल दूर रखा गया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि "अरबी-फारसी मिश्रित भाषा से साधारण जनता का लगाव नहीं था, जिनके बीच ईसाई मिशनरियों को अपने मत का प्रचार करना था। साधारण हिंदू जनता जिस भाषा में अपने कथा-पुराण कहती सुनती आई थी उसी भाषा का अनुकरण ईसाई मिशनरियों ने किया। ईसाई धर्म के पादरियों ने जिस शिष्ट भाषा में जनसाधारण को धर्म और ज्ञान आदि के उपदेश सुनते-सुनाते पाया उसी को अपने धर्म प्रचार के लिए ग्रहण किया।"[5] ईसाई मिशनरियों के अनुवाद में मुंशी सदासुखलाल और लल्लूलाल की भाषा प्रयोग का प्रभाव है। ईसाइयों ने अपने धर्म पुस्तक के अनुवाद की भाषा में अरबी और फ़ारसी के शब्द यथासंभव नहीं लिए हैं, किंतु ठेठ ग्रामीण शब्दों का बेधड़क प्रयोग किया है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ईसाई मिशनरियों ने विशुद्ध हिंदी का व्यवहार किया है। इस दौर में प्राथमिक शिक्षा के लिए ईसाई मिशनरी द्वारा कुछ स्कूल खोले गए और उससे संबंधित शिक्षा संबंधी पुस्तकें भी प्रकाशित होने लगी। इन पुस्तकों की हिंदी भी वैसी ही सरल और विशुद्ध थी जैसी 'बाइबिल' के अनुवाद की थी। आगे चलकर अंग्रेजी की शिक्षा के लिए कई स्थानों पर स्कूल और कॉलेज खुले, जिनमें अंग्रेजी के साथ हिंदी और उर्दू भी पढ़ाई जाती थी। लॉड मैकाले द्वारा अंग्रेजी भाषा की शिक्षा का पुरजोर समर्थन मिलने और देशी साहित्य के प्रति उपेक्षा प्रकट करने के कारण आम जनमानस में अंग्रेजी शिक्षा के प्रति अनुराग पनपने लगा। ईस्ट इंडिया कम्पनी सरकार ने 7 मार्च, 1835 ई. में अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार का प्रस्ताव पास कर दिया और धीरे-धीरे हर जगह अंग्रेजी के स्कूल खुलने लगे। शिक्षा संबंधी पुस्तकों के प्रकाशन के लिए 1833 ई. के

लगभग आगरा में पादरियों की एक 'स्कूल बुक सोसाइटी' स्थापित हुई। यहाँ से 1837 ई. में इंग्लैंड के इतिहास का और 1838 ई. मार्शमैन द्वारा 'प्राचीन इतिहास' का अनुवाद 'कथासागर' के नाम से प्रकाशित किया गया। 'कथासागर' के लेखक या अनुवादक पं. रतनलाल थें। इस पुस्तक के संपादक पादरी जे.जे. मूर ने अपने संपादकीय वक्तव्य में लिखा था कि यदि सर्वसाधारण से इस पुस्तक को प्रोत्साहन मिला तो इसका दूसरा भाग 'वर्तमान इतिहास' भी प्रकाशित किया जाएगा। ‘कथासागर' पुस्तक की भाषा विशुद्ध और पंडिताऊ है। इसमें 'को' के स्थान पर 'करो' और 'पाते हैं' के स्थान पर 'पावते हैं' जैसे प्रयोग बराबर मिलते हैं। आगरा के 'स्कूल बुक सोसाइटी' के लिए 1840 ई. में पं. भट्ट ने 'भूगोल-सार' और 1847 ई. में पं. बद्रीलाल शर्मा ने 'रसायन प्रकाश' लिखा। इसी तरह कलकत्ता के एक स्कूल बुक सोसाइटी ने ‘पदार्थ विद्यासागर' (1846 ई.) आदि कई वैज्ञानिक पुस्तकें प्रकाशित की। कुछ रीडरें भी मिशनरियों के छापेखाने से प्रकाशित हुई थीं- जैसे 'आजमगढ़ रीडर', जो इलाहाबाद मिशन प्रेस से 1840 ई. में प्रकाशित हुई। 1857 ई. के प्रथम स्वाधीनता संग्राम (सैनिक विद्रोह) के कुछ वर्ष पूर्व ही मिर्जापुर में ईसाई मिशनरियों द्वारा 'आरफन प्रेस' स्थापित किया गया था, जिसमें शिक्षा संबंधी कई पुस्तकें प्रकाशित होती रहीं। जैसे- भूचरित्र दर्पण, भूगोल विद्या, मनोरंजक वृत्तांत, जंतुप्रबंध, विद्यासागर, विद्वान संग्रह आदि। ये पुस्तकें 1855 ई. और 1862 ई. के बीच की हैं। इस तरह मिशन प्रेस और बुक सोसायटियों के द्वारा निरंतर विशुद्ध हिंदी में पुस्तकें और प्रकीर्णक 19

(पंफलेट) आदि प्रकाशित होते रहे हैं जिनमें कुछ खंडन-मंडन, उपदेश और भजन आदि होते थे।

1.2 ईस्ट इंडिया कम्पनी की भाषा नीति

ईस्ट इंडिया कम्पनी का भारत में प्रभुत्त्व स्थापित होने के बाद व्यापार के लिए भाषा की समस्या एक अहम् सवाल था। कम्पनी के शीर्ष अधिकारियों को यह महसूस होने लगा था कि भारत में व्यापार और शासन करने के लिए यहाँ की भाषाओं की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इसलिए अंग्रेज सरकार ने समय-समय पर भारत की शिक्षा पद्धति में बदलाव किए और राजकीय कामकाज में भाषा परिवर्तन किए। कम्पनी के इतिहास पर अगर नजर डालें तो मर्चेंट एडवेंचरर्स नाम से विख्यात कुछ व्यापारियों ने पूर्व के देशों से व्यापार करने के उद्देश्य से 1599 ई. में 'गवर्नर एंड कम्पनी ऑफ मर्चेंट ऑफ लंदन ट्रेडिंग टू द ईस्ट इंडीज' नामक कम्पनी की स्थापना की। इसी कम्पनी का नाम संक्षिप्त करके 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' कर दिया गया। 31 दिसम्बर, 1600 ई. को महारानी एजिलाबेथ प्रथम ने एक 'रॉयल चार्टर' (राजलेख) जारी कर इस कम्पनी को प्रारंभ में 15 वर्षों के लिए पूर्वी देशों से व्यापार करने का एकाधिकार पत्र दे दिया किंतु आगे चलकर 1609 ई. में ब्रिटिश सम्राट जेम्स प्रथम ने कम्पनी को अनिश्चितकालीन व्यापारिक एकाधिकार प्रदान कर दिया। 1608 ई. में इस कम्पनी ने भारत के पश्चिमी तट पर सूरत में एक फैक्ट्री खोलने का निश्चय किया, तब व्यापारिक कम्पनी ने कैप्टन हॉकिंस को जहाँगीर के दरबार में शाही आज्ञा लेने के लिए भेजा। परिणामस्वरूप एक शाही फरमान के द्वारा सूरत में फैक्ट्री खोलने की इजाज़त मिल गयी। 1611 ई. में

मुगल बादशाह जहाँगीर के दरबार में अंग्रजी कैप्टन मिडल्टन पहुँचा और व्यापार करने की अनुमति पाने में सफल हुआ। जहाँगीर ने 1613 ई. में सूरत में कम्पनी को स्थानीय कारखाना स्थापित करने की अनुमति प्रदान की। 1615 ई. में ब्रिटेन के सम्राट जेम्स प्रथम का एक दूत सर टॉमस रो जहाँगीर के दरबार में आया। उसका उद्देश्य एक व्यापारिक संधि करना था। सर टॉमस रो ने मुगल साम्राज्य के सभी भागों में व्यापार करने एवं फैक्ट्रियाँ स्थापित करने का अधिकार पत्र प्राप्त कर लिया। इस तरह ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों- मसुलीपट्टनम् (1611 ई.), सूरत (1613 ई.), बालासोर (उड़ीसा) (1633 ई.), मद्रास (1639 ई.), बम्बई (1689 ई.)- में अपनी व्यापारिक कोठियाँ स्थापित कर ली थी। 1698 ई. में अजीमुशान द्वारा अंग्रेजों को सुतानती, कलिकाता (कालीघाट-कलकत्ता) और गोविंदपुर नामक तीन गाँवों की जमींदारी मिल गयी। इन्हीं को मिलाकर जॉब चार्नाक ने कलकत्ता की नींव रखी। कम्पनी की इस नयी किलेबंद बस्ती को फोर्ट विलियम का नाम दिया गया। इस किलेबंद बस्ती के सुचारू प्रशासन के लिए एक प्रेसिडेंट और काउंसिल की व्यवस्था की गयी तथा चार्ल्स आयर को प्रथम प्रेसिडेंट नियुक्त किया गया। कलकत्ता को अंग्रेजों ने 1700 ई. में पहला प्रेसिडेंसी नगर घोषित किया। कलकत्ता 1774 ई. से 1911 ई. तक ब्रिटिश भारत की राजधानी बना रहा। ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा बंगाल का अधिग्रहण भारत में 18वीं सदी की ऐतिहासिक घटनाओं में से एक है। इस समय भारत में मुगल शासन केंद्रीय शक्ति के रूप में स्थापित थी, किंतु 1707 ई. में अहमदनगर के किले में औरंगज़ेब की मृत्यु के पश्चात् भारत की केंद्रीय सत्ता कमजोर हो गयी। देशी रियासतें और क्षेत्रीय नवाब अपनी स्वतंत्र सत्ता कायम करने के लिए उतावले होने लगे। ऐसे

समय में ईस्ट इंडिया कम्पनी को न केवल व्यापारिक वृद्धि का अपितु राजनीतिक सत्ता स्थापित करने का भी सुनहरा अवसर प्राप्त हुआ। इस समय बंगाल में नवाबों की सत्ता थी। 10 अप्रैल, 1756 ई. को सिराजुद्दौला बंगाल का नवाब बना। 23 जून, 1757 ई. को बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला की सेना और रॉबर्ट क्लाइव के नेतृत्व में ईस्ट इंडिया कम्पनी की सेना के बीच युद्ध हुआ, जिसे प्लासी का युद्ध के नाम से जाना जाता है। प्लासी के युद्ध को भारतीय इतिहास के निर्णायक युद्धों में गिना जाता है, क्योंकि इसने आगामी 200 वर्षों के लिए भारत की नियति को तय कर दिया था। इस युद्ध में नवाब सिराजुद्दौला की हार हुई। इसके बाद कम्पनी ने पहले मीर जाफर को बंगाल का नवाब बनाया, फिर उसे हटाकर 1760 ई. में मीर कासिम को नवाब बनाया और 1763 ई. में मीर कासिम को हटाकर पुनः मीर जाफर को नवाब बनाया गया। कालांतर में 22 अक्टूबर, 1764 ई. को बक्सर का युद्ध हआ, जिसमें बंगाल के अपदस्थ नवाब मीर कासिम, अवध के नवाब शुजाउद्दौला तथा मुगल बादशाह शाह आलम द्वितीय की संयुक्त सेना का ईस्ट इंडिया कम्पनी की सेना से सामना हुआ। इस युद्ध में कम्पनी की जीत हुई। बक्सर के युद्ध के पश्चात् 12 अगस्त, 1765 ई. को इलाहाबाद की संधि हुई जिसके परिणामस्वरूप कम्पनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त हो गयी। हालांकि कम्पनी ने बंगाल की सूबेदारी नवाब मीर जाफर की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र नज़मुद्दौला के हाथों में ही रहने दी। यह लॉर्ड क्लाइव द्वारा स्थापित द्वैध शासन व्यवस्था थी, जिसमें अधिकार कम्पनी के पास थी और उत्तरदायित्व नवाब को

सौंप दिया गया था। दरअसल, बक्सर युद्ध की विजय के पश्चात् कम्पनी यदि सीधे ही सत्ता अपने हाथ में ले लेती तो इससे उसका वास्तविक साम्राज्यवादी चरित्र जनता के समक्ष आ जाता, जिससे स्थानीय विद्रोह भड़कने तथा अन्य विदेशी प्रतिद्वंद्वियों के एकजुट होने का खतरा था। 1772 ई. में जब वारेन हेस्टिंग्स को बंगाल का गवर्नर नियुक्त किया गया, तब तक राबर्ट क्लाइव द्वारा बंगाल में स्थापित द्वैध शासन प्रणाली पूर्णतः विफल हो चुकी थी। अतः वारेन हेस्टिंग्स ने द्वैध शासन समाप्त कर बंगाल पर विजित राज्य के रूप में शासन करना प्रारंभ किया और छद्म मुगल संप्रभुता के नकाब को उतार फेंका। इस प्रकार, ईस्ट इंडिया कम्पनी ने दो दशक से भी कम समय में बंगाल के प्रशासनिक एवं राजनीतिक अधिकारों पर अपना सीधा नियंत्रण स्थापित कर लिया। 18वीं सदी के अंत तक ईस्ट इंडिया कम्पनी अपने मुख्य प्रतिद्वंद्वियों में से फ्रांसीसियों, हैदर अली और टीपू सुल्तान को पराजित कर चुके थें। अब केवल मराठों को हराना शेष था। 1800 ई. तक हिंदी प्रदेश के पूर्वी भाग पर कम्पनी का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। 1801 ई. से 1818 ई. के बीच समस्त हिंदी प्रदेश ने कम्पनी की अधीनता स्वीकार कर ली। तृतीय आंग्ल-मराठा युद्ध के बाद 1818 ई. में मराठा साम्राज्य भी कम्पनी के अधीन आ गया। इसी तरह 1849 ई. में द्वितीय आंग्ल-सिख युद्ध के उपरांत सिख साम्राज्य का अंत हुआ और पंजाब भी कम्पनी के अधीन आ गया। इस प्रकार रॉबर्ट क्लाइव द्वारा शुरू किया हुआ कार्य लॉर्ड वेलेजली और लॉर्ड हेस्टिंग्स ने उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में पूरा किया। अठारहवीं सदी के उत्तरार्द्ध में ईस्ट इंडिया कम्पनी की सत्ता भारत में धीरे-धीरे स्थापित होती जा रही थी। इस समय तक

आते-आते मुगल सत्ता नाम मात्र की ही रह गयी थी। उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक कम्पनी का मुख्य उद्देश्य भारत में राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करना और अधिक से अधिक धन अर्जित करना था। भाषा-नीति उनके लिए गौण विषय था। जब कम्पनी ने भारत की शासन व्यवस्था को संभाला तब यहाँ की राजभाषा फ़ारसी थी। शेरशाह सूरी के शासन काल से ही राजस्व विभाग के रिकॉर्डों को हिंदी में रखे जाने की व्यवस्था थी। 'मुगल शासन काल में भी दरबार में हिंदी नवीस (हिंदी सेक्रेटरी) और फ़ारसी नवीस (फारसी सेक्रेटरी) रखने की परम्परा थी। मुगल बादशाह द्वारा जारी की गयी सभी आज्ञाएँ दोनों भाषाओं में लिखी जाती थीं। प्रशासन के संदर्भ में भाषा-नीति यद्यपि ईस्ट इंडिया कम्पनी ने मुगल काल से चली आ रही अदालती कामकाज और सरकारी दफ्तरों की भाषा के तौर पर फ़ारसी को ही राजभाषा बनाए रखा, तथापि उस भाषा और लिपि से जनता के अपरिचित रहने के कारण लोगों को जो कठिनाई होती थी उसे कुछ आसान बनाने के लिए 1803 ई. में यह आज्ञा निकाली- "किसी को इस बात का उजूर न होए कि ऊपर के दफे का लीखा हुकुम सबसे वाकीफ़ नहीं है, हरी एक जिले के कलीक्टर साहेब को लाज़ीम है कि इस आइन के पावने एक एक केता इसतहारनामा निचे के सरह से फ़ारसी व नागरी भाखा वो अच्छर में लिखाय के... कचहरी में लटका वही।... अदालतों के जज साहेब लोग के कचहरी में भी तमाम आदमी के बुझने के वास्ते लटका वही।"[6] कम्पनी सरकार द्वारा जारी उपरोक्त आज्ञा की भाषा से यह स्पष्ट है कि उस समय अदालतों की भाषा मुंशी उर्दू थी, जिसे कायस्थों और मुसलमानों ने विकसित कर विशेष शैली में निखारा था। सन् 1813 ई. के चार्टर

एक्ट में शिक्षा के प्रसार के लिए प्रतिवर्ष एक लाख रुपये की राशि निर्धारित की गयी थी। चार्ल्स ग्रांट और विल्बर फ़ोर्स जैसे आंग्लवादी विद्वान अंग्रेजी भाषा के माध्यम से शैक्षिक और प्रशासनिक काम कराना चाहते थें। उनके विचार में राजस्व, प्रशासन, न्याय व्यवस्था और सरकारी कार्यालयों में संपादित किये जाने वाले सभी कार्यों के लिए फ़ारसी के बजाये अंग्रेजी ही उचित भाषा थी। आंग्लवादियों का यह अभिमत था कि "अंग्रेजी के प्रसार से ईसाई धर्म का प्रचार भी सुगमतापूर्वक हो जाता और हिंदू पिछड़ेपन से मुक्ति भी पा जाते। इससे स्पष्ट होता है कि आंग्लवादी विचारधारा का प्रसार हिंदी, उर्दू और अन्य भारतीय भाषाओं के हित में नहीं था। ऐसी स्थिति में केवल आपसी प्रतिद्वंद्विता की भावना का ही पोषण होना था, जो आगे चलकर जटिल समस्या का स्वरूप अख्तियार करती गयी। लॉर्ड वेलेजली की सहायक संधि की नीति ने हिंदी-उर्दू का विशाल क्षेत्र ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधीन कर दिया था। यह क्षेत्र निरंतर बढ़ता ही जा रहा था। अब आगरा भी कम्पनी के ही अधीन था"।[7] सिंकदर लोदी के शासन काल से ही आगरा फ़ारसी और बाद में चलकर उर्दू का गढ़ रहा था। हालांकि कम्पनी के शासन काल में आगरा क्षेत्र के हिंदी भाषी लोग सरकारी दफ्तरों में हिंदी के प्रयोग की मांग कर रहे थें। अब तक फ़ारसी के अदालती भाषा होने के कारण जनता को जो कठिनाइयाँ होती थीं उसका अनुभव अधिकाधिक होने लगा था। इसलिए 29 जुलाई, 1836 ई. को आगरा से सदर बोर्ड, संयुक्त प्रदेश द्वारा एक इश्तहारनामा जारी किया गया, जिसमें कम्पनी सरकार की ओर से अदालती काम देश की प्रचलित आम भाषा में किए जाने का आदेश दिया गया। "पच्छाँह के सदर बोर्ड के

साहबों ने यह ध्यान किया है कि कचहरी के सब कामकाज फ़ारसी ज़बान में लिखा-पढ़ा होने से सब लोगों को बहुत हर्ज पड़ता है और बहुत कलप होता है और जब कोई अपनी अर्जी अपनी भाषा में लिख के सरकार में दाखिल कर पाता तो बड़ी बात होगी। सबको चैन आराम होगा। इसलिये हुक्म दिया गया है कि 1244 की कुवार बदी प्रथम से जिसका जो मामला सदर व बोर्ड में हो सो अपना-अपना सवाल अपनी हिंदी की बोली में और फारसी के नागरी अच्छरन में लिखे दाखिल करे कि डाक पर भेजें और सवाल जौन अच्छरन में लिखा हो तौने अच्छरन में और बोली में उस पर हुक्म लिखा जाएगा। मिति 29 जुलाई, सन् 1836 ई.।"[8] इसमें स्पष्ट कहा गया है कि भाषा 'हिंदी' हो और अक्षर नागरी के साथ-साथ फ़ारसी भी हो सकते हैं। यह इकलौता मौका था जब "ईस्ट इंडिया कम्पनी सरकार ने लोकतांत्रिक वाजिब मांगों पर अमल भी किया था परंतु हिंदी भाषियों की तकलीफों का ध्यान कम्पनी सरकार को मात्र एक वर्ष ही रहा और मुसलमानों द्वारा इस आज्ञा का घोर विरोध किए जाने के परिणामस्वरूप 1837 ई. में कम्पनी सरकार को अपनी आज्ञा वापस लेनी पड़ी। इसके साथ ही उर्दू को अदालती भाषा भी घोषित करना पड़ा, जिसकी लिपि फ़ारसी थी। नवम्बर, 1837 ई. में 'गवर्नर जनरल इन काउंसिल' ने बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर और उत्तर-पश्चिम प्रांतों के लेफ्टिनेंट गवर्नर को इस बात का अधिकार दिया था कि फ़ारसी के स्थान पर वह देशी भाषाओं को दफ्तरी भाषा के तौर पर प्रतिष्ठित करें। इस आदेश का पालन करते समय उर्दू के साथ पक्षपात किया गया और हिंदी को उसका वाजिब हक नहीं मिल सका। 1839 ई. में सदर दीवानी अदालत ने आदेश दिया कि हिंदुस्तानी अर्थात् उर्दू ही सभी अदालतों में प्रयुक्त की जाए। 1840 ई. में बोर्ड ऑफ रेवेन्यू ने भारतीय जनता से

पत्र-व्यवहार आदि कार्यों में उर्दू भाषा का प्रयोग करना पूर्ण रूप से आरंभ कर दिया और फ़ारसी व अरबी शब्दों के कम से कम प्रयोग पर बल दिया।"[9]

ईस्ट इंडिया कम्पनी की इस ढुलमुल नीति के कारण उर्दू और हिंदी के समर्थकों के बीच एक अनावश्यक होड़ मच गयी। यह दौर बहादुरशाह जफ़र, गालिब और ज़ौक का था। उर्दू भाषा और साहित्य का विकास अपनी पूरी पराकाष्ठा पर था। ऐसे में कम्पनी सरकार के अधिकारियों का संपर्क इसी शहरी जुबान से हुआ न कि गाँव-देहातों में आम जनता के बीच बोली जाने वाली हिंदी से। इस तरह उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध तक उर्दू ही कम्पनी सरकार की सरकारी कामकाज की भाषा बनी रही। हालांकि लेफ्टिनेंट गवर्नर टॉम्सन का कार्यकाल (1843-1853ई.) इसका अपवाद स्वरूप था। पश्चिमोत्तर प्रांत के लेफ्टिनेंट गवर्नर के रूप में कार्य करते हुए इन्होंने देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा के प्रसार की योजना बनायी थी। यहाँ ध्यान देने वाली बात यह है कि टॉम्सन ने उर्दू और हिंदी को समान महत्व दिया था। टॉम्सन से पहले पश्चिमोत्तर प्रांत में माध्यमिक शिक्षा और उच्च शिक्षा की माध्यम भाषा फ़ारसी थी, जबकि इसके बरक्स बंगाल, बम्बई और मद्रास प्रेसीडेंसियों में माध्यम देशी भाषाओं का था। शिक्षा के संदर्भ में भाषा-नीति ईस्ट इंडिया कम्पनी प्रारंभ में मूलतः एक व्यापारिक कम्पनी थी। भारत में इसके शासन काल के आरंभिक दौर में शिक्षा के लिए जो भी प्रयास किये गए, वे व्यक्तिगत तौर पर किये गए थें। बंगाल के गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स ने 1781 ई. में अरबी और फ़ारसी भाषा के अध्ययन के लिए कलकत्ता मदरसा की स्थापना की। कलकत्ता मदरसा की स्थापना का मुख्य उद्देश्य मुस्लिम कानूनों और इससे संबंधित

अन्य विषयों की जानकारी देना था। 1784 ई. में सर विलियम जोन्स ने कलकत्ता में 'एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल' की स्थापना की, जिसने प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। बनारस के ब्रिटिश रेजिडेंट जोनाथन डंकन के प्रयत्न से 1791 ई. में बनारस संस्कृत कॉलेज की स्थापना की गयी, जिसका उद्देश्य हिंदू विधि एवं दर्शन का अध्ययन करना था। आगे चलकर बंगाल के गवर्नर जनरल लॉर्ड वेलेजली ने ईस्ट इंडिया कम्पनी के असैन्य अधिकारियों के प्रशिक्षण के लिए 1800 ई. में कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की। ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन भारत में सुस्थापित हो जाने के बाद कम्पनी को अरबी, फ़ारसी एवं संस्कृत के ज्ञाताओं की आवश्यकता हुई जो भारतीय रियासतों के साथ पत्र-व्यवहार के कार्य में सहयोग दे सकें। इसी समय प्रबुद्ध भारतीयों एवं मिशनरियों ने कम्पनी सरकार पर आधुनिक, धर्म निरपेक्ष एवं पाश्चात्य शिक्षा को प्रोत्साहित करने का दबाव डालना आरंभ कर दिया। कलकत्ता मदरसा एवं संस्कृत कॉलेज में शिक्षा पद्धति के ढाँचे को इस प्रकार से तैयार किया गया था कि कम्पनी को ऐसे शिक्षित व वफ़ादार वर्ग की प्राप्ति हो सके जो शास्त्रीय व स्थानीय भाषा के अच्छे ज्ञाता होने के साथ-साथ कम्पनी के प्रशासन में भी मदद कर सकें। न्यायालयों में अंग्रेज़ न्यायाधीशों को ऐसे परामर्शदाताओं की जरूरत थी जो हिंदी, अरबी, उर्दू, फ़ारसी और संस्कृत भाषाओं के ज्ञाता हों और मुस्लिम तथा हिंदू कानूनों की व्याख्या करने में पारंगत हों। ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा भारत में शिक्षा के क्षेत्र में वास्तविक प्रयास 1813 ई. के चार्टर अधिनियम के तहत शुरू किया गया। 1813 ई. के चार्टर एक्ट में गवर्नर जनरल को यह अधिकार दिया गया कि वह एक लाख रुपये की वार्षिक राशि को साहित्य के

पुनरुद्धार और भारत में स्थानीय विद्वानों को प्रोत्साहन देने के लिए एवं कम्पनी शासित प्रदेशों के वासियों को विज्ञान और दर्शन की शिक्षा प्रदान करने हेतु खर्च करें। वास्तव में, कम्पनी सरकार द्वारा भारत में आधुनिक शिक्षा के प्रसार का मूल उद्देश्य छोटे प्रशासनिक पदों पर नियुक्ति हेतु भारतीयों की आवश्यकता की पूर्ति थी। कम्पनी सरकार द्वारा लोक शिक्षा के लिए सामान्य समिति का गठन किया गया, जिसमें 10 सदस्य थें। इन सदस्यों में दो गुट बन गए- पहला, प्राच्य शिक्षा का समर्थक था और दूसरा, आंग्ल शिक्षा का। प्राच्य विद्या के समर्थक गुट का नेतृत्व सामान्य समिति के सचिव एच.टी. प्रिंसेप ने किया, जिनका समर्थन सामान्य समिति के मंत्री एच.एच. विल्सन ने भी किया। प्राच्य शिक्षा समर्थक समूह का तर्क था कि रोजगार के अवसरों में वृद्धि के लिए पाश्चात्य विज्ञान एवं साहित्य को बढ़ावा परंपरागत भारतीय भाषाओं अर्थात् फारसी, अरबी में दिया जाना चाहिए जो कि भारतीयों की परिचित भाषा थी। उन्होंने यह तर्क दिया कि पाश्चात्य ज्ञान व विचारों के संपर्क में आने से भारतीय संस्कृति का विनाश हो जाएगा। उनका मत था कि आधुनिक युग की उपलब्धियाँ और आविष्कार, आधुनिक भौतिक, रासायन, प्राणीशास्त्र के सिद्धांत और निष्कर्ष वेदों में पहले से ही विवेचित हैं। उन्हें ठीक तरह से समझने और व्याख्यायित करने की जरूरत है। दूसरी ओर, आंग्ल शिक्षा के समर्थक गुट का नेतृत्व मुनरो और एलिफिंस्टन ने किया। इनका समर्थन लॉर्ड मैकाले ने भी किया। आंग्ल शिक्षा समर्थक समूह का तर्क था कि प्राच्य शिक्षा-पद्धति मरणासन्न है और उसको पुनर्जीवित करना असंभव है। अरबी,

फ़ारसी और संस्कृत साहित्य में रूढ़िवादो एवं संकुचित विचारों के अतिरिक्त कोई लाभप्रद ज्ञान नहीं है। प्राच्य-पाश्चात्य विवाद की बढ़ती उग्रता देखकर तत्कालीन ब्रिटिश गवर्नर जनरल लॉर्ड विलियम बेंटिक ने अपनी काउंसिल के विधि सदस्य लॉर्ड मैकाले को लोक शिक्षा समिति का प्रधान नियुक्त कर, उन्हें भाषा संबंधी विवाद पर अपना विवरण-पत्र प्रस्तुत करने को कहा। मैकाले ने आंग्ल गुट का समर्थन किया और उसने अंग्रेजी भाषा-साहित्य की प्रशंसा करते हुए भारतीय भाषा व साहित्य की आलोचना की। 02 फरवरी, 1835 ई. को लिया गया मैकाले का बहुचर्चित 'मिनट ऑन इंडियन एजुकेशन' में यह कहा कि "यूरोप के एक अच्छे पुस्तकालय की आलमारी का एक कक्ष भारत एवं अरब के समस्त साहित्य से ज्यादा मूल्यवान है।"[10] वस्तुतः मैकाले भारत में अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से ऐसा वर्ग तैयार करना चाहता था जो रक्त व रंग से भले ही भारतीय हो, किंतु विचार, नैतिक मापदंड और प्रवृत्ति बिल्कुल अंग्रेजों जैसी हो। यानी वह 'काली चमड़ी में अंग्रेजों का एक वर्ग चाहता था।' मैकाले के 'स्मरणार्थ लेख' को 1835 ई. में भारत के गवर्नर जनरल लॉर्ड विलियम बेंटिक ने स्वीकार कर यह आदेश जारी किया कि भविष्य में कम्पनी सरकार यूरोपीय साहित्य को अंग्रेजी माध्यम द्वारा उन्नत करे तथा भारत में शिक्षा संबंधी सभी खर्च इसी उद्देश्य से किये जाएँ। मैकाले के इन सुझावों को कम्पनी सरकार ने तत्काल लागू करते हुए स्कूलों और कॉलेजों में शिक्षा का माध्यम भाषा अंग्रेजी बना दिया। अब सरकार की योजना उच्च वर्ग को अंग्रेजी शिक्षित बनाने की थी। परिणामस्वरूप जनसाधारण की शिक्षा उपेक्षित होने लगी। दरअसल, ईस्ट इंडिया कम्पनी ने शिक्षा का 'अधोमुखी निस्यंदन सिद्धांत'

विकसित किया था। इस सिद्धांत के प्रतिपादन के पीछे यह समझ काम कर रही थी कि शिक्षा समाज के केवल उच्च वर्ग को ही दी जाए और इस वर्ग के शिक्षित होने के उपरांत शिक्षा का प्रभाव स्वयं ही छन-छन कर जनसाधारण तक पहुँच जाएगा, किंतु कम्पनी सरकार की यह नीति नाकामयाब साबित हुई। इसका कारण यह था कि अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने वाला प्रत्येक व्यक्ति सरकारी पद प्राप्त होने के बाद अपने कर्तव्य से प्रायः विमुख ही रहता था। इन अंग्रेजी स्कूलों में शिक्षित व्यक्ति की विचारधारा में परिवर्तन हुआ तथा वह अपने देश के लोगों की सहानुभूति प्राप्त करने में असफल रहा। देशी विद्यालयों की अवहेलना की गयी तथा इस प्रकार सार्वजनिक शिक्षा के कार्यों को क्षति पहुँची। ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन काल में शिक्षा के प्रसार का दूसरा चरण भारत के गवर्नर जनरल लॉर्ड डलहौजी के समय में शुरू होता है। बोर्ड ऑफ कंट्रोल के प्रधान सर चार्ल्स वुड ने 1854 ई. में भारत की भावी शिक्षा नीति की विस्तृत योजना बनायी, जिसे 'भारतीय शिक्षा का मैग्नाकार्टा' कहा जाता है। वुड घोषणा-पत्र में अखिल भारतीय स्तर पर शिक्षा की नियामक पद्धति का गठन किया गया। चार्ल्स वुड के 'डिस्पैच' में शिक्षा संबंधी विभिन्न सिफारिशें की गयी थीं। इसमें स्पष्ट रूप से यह कहा गया कि उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी हो, किंतु प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा देशी भाषाओं में दिए जाएँ। देशी भाषायी प्राथमिक पाठशालाएँ स्थापित की जाएँ और उनके ऊपर (जिला स्तर पर) आंग्ल-देशी भाषायी हाई स्कूल और संबंधित कॉलेजों की स्थापना की जाए। लंदन विश्वविद्यालय के आधार पर कलकत्ता, बम्बई और मद्रास में विश्वविद्यालयों को स्थापित करने का सुझाव दिया गया। 1857 ई. में ये विश्वविद्यालय अस्तित्व में आ गए। वुड घोषणा-पत्र में यह कहा गया कि कम्पनी के प्रत्येक प्रांत में

पृथक लोक शिक्षा विभाग की स्थापना की जाए, जो प्रांत की शिक्षा व्यवस्था की देख-रेख करें और उसी संबंध में सरकार को प्रतिवर्ष अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करें। चार्ल्स वुड के शिक्षा सुझावों के तहत बंगाल में बांग्ला, बम्बई में मराठी, उड़ीसा में उड़िया आदि के माध्यम से शिक्षा दी जाने लगी, किंतु हिंदी-उर्दू क्षेत्र में विवाद बना ही रहा। 1855 ई. में ईस्ट इंडिया कम्पनी के 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' ने अपर इंडिया क्षेत्र में शिक्षा प्रसार के लिए देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा दिए जाने की सिफ़ारिश को लागू करते समय एक बार फिर उर्दू की हिमायत की और यह आशा व्यक्त की कि धीरे-धीरे स्थानीय बोलियों का स्थान भी उर्दू (हिंदुस्तानी) ले लेगी। हालांकि इस विषय में कम्पनी ने यह सावधानी बरती थी कि यह काम धीरे-धीरे और किसी की भी भावनाओं को बिना ठेस पहुँचाए हो।"[11] 'वुड डिस्पैच' की सिफारिशों के अनुसार 1855 ई. में एक पृथक शिक्षा विभाग की स्थापना हुई, जिसके अंतर्गत प्रांतों में शिक्षा निदेशकों की नियुक्ति की गयी। बाद के वर्षों में इन्हीं सुझावों के आधार पर कार्य किया गया, जिसके परिणामस्वरूप भारत की शिक्षा का ढाँचा पाश्चात्य शिक्षा पद्धति के आधार पर विकसित हुआ और प्राचीन भारतीय शिक्षा-पद्धति मृतप्राय होती चली गयी। 10 मई, 1857 ई. को मेरठ में ईस्ट इंडिया कम्पनी के भारतीय सिपाहियों ने कम्पनी के खिलाफ विद्रोह कर दिया। धीरे-धीरे यह विद्रोह समूचे हिंदी-उर्दू प्रदेश में फैल गया। हालांकि इस विद्रोह का दमन कर दिया गया, किंतु इसके दूरगामी परिणाम बहुत उपयोगी रहे। मुगल साम्राज्य का दरवाजा सदा के लिए बंद हो गया। 'ब्रिटिश

क्राउन' ने ईस्ट इंडिया कम्पनी से भारत पर शासन करने के सभी अधिकार वापस ले लिए। 01 नवम्बर,1858 ई. को इलाहाबाद में आयोजित दरबार में भारत के प्रथम वायसराय लॉर्ड कैनिंग ने महारानी विक्टोरिया की उद्घोषणा को पढ़ा। उद्घोषणा में भारत में कम्पनी का शासन समाप्त कर भारत का शासन सीधे क्राउन के अधीन कर देने की सूचना दी गयी। इसके पश्चात ब्रिटिश सरकार ने बदले हुए राजनीतिक परिवेश में भाषा विवाद को नए सिरे से देखा। अवध के ब्रिटिश साम्राज्य में विलय और मुगल सल्तनत की समाप्ति के पश्चात ब्रिटिश सरकार अब भाषा विवाद में स्वतंत्र निर्णय लेने में समर्थ थी। इसके पश्चात् उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध का दौर आरंभ होता है।

1.3 फोर्ट विलियम कॉलेज की हिंदी भाषा संबंधी नीति

फोर्ट विलियम कॉलेज का भारत की भाषा-नीति में महत्त्वपूर्ण योगदान है। जिस उद्देश्य से इस कॉलेज को बनाया गया उसमें अंग्रेजी भाषा कौशल के ज्ञान के कर्मचारियों को तैयार करना साथ ही हिंदी भाषा के मूलभूत ज्ञान से उन्हें अवगत कराना था। बंगाल के गवर्नर जनरल लॉर्ड वेलेजली ने अपनी काउंसिल के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए और ईस्ट इंडिया कम्पनी के 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' को भेजने के लिए 10 जुलाई, 1800 ई. को एक नोट्स तैयार किया, जिसका शीर्षक था- 'दी गवर्नर जनरल्स नोट्स विद रेसपेक्ट टू दी फाउंडेशन ऑफ दी कॉलेज ऑफ फोर्ट विलियम'। इसी दिन कॉलेज संबंधी रेग्यूलेशन भी तैयार कर लिया गया। गवर्नर जनरल लॉर्ड वेलेजली के आदेश के अनुसार काउंसिल ने मैसूर की राजधानी श्रीरंगपट्टनम पर विजय की पहली सालगिरह की तिथि 04 मई, 1800 ई. से कॉलेज की शुरूआत मानी। लॉर्ड वेलेजली को

यह आशंका थी कि कम्पनी के 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' कॉलेज की स्थापना करने के लिए कभी तैयार नहीं होंगे। इसलिए उसने कोर्ट को बिना बताए ही कॉलेज की स्थापना की घोषणा कर दी। वेलेजली की आदत में यह शुमार था कि वे अपनी नीतियों व योजनाओं को अपने हिसाब से तय कर लेते थें, उस कार्य-योजना पर कार्यवाहियाँ भी कर लेते थें और फिर अंत में जाकर 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' को इसकी जानकारी देते थें। जबकि इसके विपरीत ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी का यह नियम था कि गवर्नर जनरल को अपनी कार्यवाहियों के लिए 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' की अनुमति लेनी आवश्यक थी। इस तरह फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना के नींव में ही ईस्ट इंडिया कम्पनी और कॉलेज के बीच कड़वाहट के बीज बो दिए गए। लॉर्ड वेलेजली के जीवनी लेखक रॉबर्ट आर. पीयर्स ने उनके द्वारा फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना के पीछे की मानसिकता को उजागर करते हुए उस दौर के बारे में लिखा है, “बौद्धिक वर्ग एक कॉलेज की स्थापना करने वाले को कहीं ज्यादा सम्मान से देखता है, बजाये उन लोगों के जो कि एक सेना को परास्त कर देते हैं या एक साम्राज्य पर अधिकार कर लेते हैं।"[12] बहरहाल, वेलेजली की योजना के अनुसार कॉलेज बहुत बड़े पैमाने पर शुरू हो गया। राइटर्स बिल्डिंग, कलकत्ता में कक्षाएँ लगनी भी शुरू हो गयी और 10 अप्रैल, 1801 ई. से कॉलेज का पहला स्टैच्यूट भी लागू हो गया। किंतु जैसा कि पीछे यह विवेचित किया गया है, यह सारी कार्यवाहियाँ 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' को विश्वास में लिए बिना ही शुरू की गयी थीं। इसलिए इसका असर होना स्वाभाविक ही था। वेलेजली के नोट्स के

तत्काल जवाब में कोर्ट ने यह लिखा कि "मार्विस वेलेजली की यह आयोजना उदार और हितकारी होते हुए भी कम्पनी की आर्थिक दुरावस्था और धनाभाव को ध्यान में रखकर स्वीकार नहीं की जा सकती है। 27 जनवरी, 1802 ई. को कोर्ट ने कॉलेज काउंसिल को एक पत्र लिखकर कॉलेज को तुरंत बंद करने की आज्ञा दी।"[13] कोर्ट ने इस पत्र में लिखा कि ऐसे किसी भी कार्य को आरंभ करने से पहले खर्च का एक आंकलन तैयार किया जाता है और अभी कम्पनी की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं है कि वह इतने बड़े खर्चीले आयोजन का भार वहन कर सके। साथ ही कोर्ट ने वेलेजली द्वारा बिना किसी पूर्व अनुमति के इतने बड़े कार्य को शुरू कर नियम भंग करने की कड़ी आलोचना की। कोर्ट का यह मानना था कि "जॉन बॉर्थविक गिलक्राइस्ट की 'ओरिएंटल सेमिनरी' की पुनर्स्थापना के माध्यम से कम्पनी की जरूरतें पूरी हो सकती हैं, तब इतने खर्चीले कॉलेज को स्थापित करने की क्या आवश्यकता थी? लॉर्ड वेलेजली को कोर्ट के प्रति उत्तर से गहरी निराशा हुई। 05 अगस्त, 1802 ई. की काउंसिल की बैठक में वेलेजली ने यह कहा कि कोर्ट जब यह पत्र जारी कर रहा था तो वह इतने अल्प अवधि में कॉलेज द्वारा किये गये योगदानों से परिचित नहीं था। कॉलेज की वजह से उत्पन्न सभी प्रकार की आर्थिक समस्याओं का समाधान देते हुए वेलेजली ने कोर्ट को एक विस्तृत पत्र लिखा।"[14] वेलेजली ने लिखा कि "फ़ोर्ट विलियम कॉलेज जैसे संस्थान का निर्माण कर ही ईस्ट इंडिया कम्पनी धन का सबसे अच्छा उपयोग कर सकती है और ऐसे संस्थान के अभाव में भारत में ब्रिटिश साम्राज्य को स्थायी रूप नहीं दिया जा सकता। 'कोर्ट ऑफ

डायरेक्टर्स' द्वारा वैकल्पिक तौर पर सुझाया गया जॉन गिलक्राइस्ट की 'ओरिएंटल सेमिनरी' से विद्यार्थियों को भाषाओं की सामान्य जानकारी जरूर दी जा सकती है, किंतु उनके व्यक्तित्व का समुचित विकास नहीं किया जा सकता। इस तरह 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' की आज्ञा तत्काल लागू न कर वेलेजली ने दिसम्बर, 1803 ई. तक कॉलेज को पहले की तरह चलते रहने का आदेश दिया। साथ ही, कोर्ट से इस संदर्भ में और भी विचार करने का अनुरोध किया। आगे चलकर 'बोर्ड ऑफ कंट्रोल' के हस्तक्षेप से कॉलेज बच गया, किंतु फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना के समय से ही 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' की वक्र दृष्टि उस पर पड़ चुकी थी जिसका प्रभाव आगे भी देखा गया। 1805 ई. में लॉर्ड वेलेजली का कार्यकाल समाप्त हो गया और वे हमेशा के लिए ब्रिटेन लौट गए। उनकी जगह बंगाल के नए गवर्नर जनरल सर जॉर्ज बार्लो की नियुक्ति हुई। ईस्ट इंडिया कम्पनी के 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' के प्रयासों से 1806 ई. में हर्टफोर्ड कॉलेज की इंग्लैंड में स्थापना हुई जिसे बाद में हैलीबरी में स्थानांतरित कर दिया गया।"[15] इस कॉलेज की स्थापना से 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' को बड़ी राहत मिली और अपनी नीतियों को लागू करने का अधिकार भी प्राप्त हुआ। हर्टफोर्ड कॉलेज के बहाने से 'कोर्ट' अब फोर्ट विलियम कॉलेज पर अंकुश लगाने का काम करने लगी। 1805 ई. से ही फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के खर्च में कटौतियों का जो सिलसिला शुरू हुआ, वह फिर कॉलेज के बंद होने के साथ ही खत्म हो सका। अभी तक फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में भारत आने वाले सिविल सेवा के कर्मचारियों को निरंतर तीन वर्ष का प्रशिक्षण दिया

जाता था, किंतु हर्टफोर्ड कॉलेज की स्थापना के बाद फोर्ट विलियम कॉलेज को सिर्फ प्राच्य भाषाओं के प्रशिक्षण तक सीमित कर दिया गया। 21 मई, 1806 ई. को 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' ने फ़ोर्ट विलियम कॉलेज काउंसिल को पत्र लिखकर यह आदेश दिया कि अब से कॉलेज में सिर्फ प्राच्य भाषाओं का ही अध्ययन हो, हर्टफोर्ड कॉलेज में शिक्षा देने के बाद विद्यार्थियों को फोर्ट विलियम कॉलेज में सिर्फ एक वर्ष तक ही रखा जाए। इस तरह फ़ोर्ट विलियम कॉलेज को 'कोर्ट' द्वारा लगातार कमजोर किया गया। 1853 ई. में तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड डलहौजी ने अपने मिनट्स में फोर्ट विलियम कॉलज को अप्रासंगिक बताते हुए इसे 'जीवित अस्थि-पंजर' की संज्ञा दी। डलहौजी के इस मिनट्स के कुछ दिनों बाद ही 1854 ई. में बंगाल सरकार ने फोर्ट विलियम कॉलेज को बंद करने की आज्ञा दे दी और इसके स्थान पर एक 'बोर्ड ऑफ एक्जामिनर्स' का गठन कर दिया गया। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की भाषा-नीति को समझने के लिए उसके हिंदुस्तानी विभाग में नियुक्त प्राध्यापकों के भाषा-दृष्टि की विवेचना आवश्यक है। कॉलेज के आरंभ होने के समय प्राध्यापक के रूप में निम्न विद्वानों की नियुक्ति हुई:-

“प्राध्यापक	निर्धारित विषय
1. जॉर्ज हिलरी बार्लो।	भारत में ब्रिटिश सरकार द्वारा लागू किए गए नियम-कानून।
2. नील बेंजामिन एडमॉन्सटन	फ़ारसी भाषा और साहित्य

3. जॉन बेली।	अरबी भाषा
4. जॉर्ज बार्थाविक गिलक्राइस्ट	हिन्दुस्तानी भाषा
5. रेवरेंड क्लॉडियस बुकानन	ग्रीक, लैटिन और अंग्रेजी क्लसिक्स

विषय की मांग को ध्यान में रखते हुए फोर्ट विलियम कॉलेज की भाषा-नीति के संदर्भ में यह विवेचना केवल हिंदुस्तानी विभाग के प्राध्यापकों, उनके कार्यों, उनकी भाषा-दृष्टि आदि पर केंद्रित रहेगी"।[16] जॉन बॉर्थविक गिलक्राइस्ट की भाषा-दृष्टि लॉर्ड वलेजली ने जॉन बॉर्थविक गिलक्राइस्ट को फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के हिंदुस्तानी विभाग का पहला प्रधान अध्यापक नियुक्त किया था। कॉलेज में नियुक्ति से पूर्व ही जॉन गिलक्राइस्ट 1783 ई. में ईस्ट इंडिया कम्पनी के तहत सहायक सर्जन के रूप में भारत आ चुके थें। इन वर्षों में गिलक्राइस्ट ने कम्पनी कर्मचारी के साथ-साथ भाषा अध्येता के रूप में भी कार्य किया था। आगे चलकर, गिलक्राइस्ट बंगाल में स्थित 'ओरिएंटल सेमिनरी' में अध्यापन कार्य करने लगे। फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना से पूर्व ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारियों व कर्मचारियों की शिक्षा एवं प्रशिक्षण का कार्य ओरिएंटल सेमिनरी ही कर रही थी। इस तरह भाषा अध्येता के रूप में गिलक्राइस्ट की पहचान बन चुकी थी। इसीलिए जब कॉलेज की स्थापना हुई तो लॉर्ड वेलेजली ने उन्हें हिंदुस्तानी विभाग के प्रधान अध्यापक (प्रोफेसर) की जिम्मेदारी सौंपी। हिंदुस्तानी विभाग में गिलक्राइस्ट ने अपना पहला व्याख्यान 26 नवम्बर, 1800 ई. (बुधवार) को दिया था। कॉलेज का काम सुचारू रूप से शुरू हो चुका था। जॉन गिलक्राइस्ट को भाषा मुंशी की जरूरत महसूस हो रही थी, इस हेतु उन्होंने अपनी मांग रखी। 19

फरवरी, 1802 ई. को कॉलेज काउंसिल की बैठक में भाषा (भाखा) मुंशी की मांग स्वीकार कर ली गयी। इस पद पर लल्लूलाल नियुक्त हुए। लल्लूलाल से पहले अन्य भाषाओं के मुंशियों की नियुक्ति हो चुकी थी। ये मुंशी विद्यार्थियों की मदद करने के साथ-साथ हिंदुस्तानी विभाग के लिए पुस्तकें तैयार करवाने में भी सहयोग करते थे। जॉन गिलक्राइस्ट ने इन मुंशियों की मदद से कॉलेज में अपने पाँच वर्ष के छोटे कार्यकाल में भी अनेक नए ग्रंथों का निर्माण कराया। “जॉन गिलक्राइस्ट द्वारा निम्नलिखत महत्वपूर्ण रचनाओं का सृजन किया गया- ‘डिक्शनरी : इंग्लिश एंड हिंदुस्तानी’, ‘अ ग्रामर ऑफ दी हिंदुस्तानी लैंग्वेज’, ‘दी ओरिएंटल लिंग्विस्ट’, ‘दी हिंदी स्टोरी टेलर’, ‘दी एंटी जार्गोनिस्ट’, ‘दी स्टेंजर्स इनफैलिएवल ईस्ट इंडिया गाइड’, ‘दी हिंदी मोरल प्रिसेण्टर’ ,‘दी ओरिएंटल फैब्यूलिस्ट’, ‘अ कलेक्शन ऑफ डायलॉग्स : इंग्लिश एंड हिंदुस्तानी’, ‘दी हिंदी रोमन ऑर्थोएपिग्राफिकल अल्टिमम’। जॉन गिलक्राइस्ट की अध्यक्षता में हिंदुस्तानी विभाग के अन्य मुंशियों द्वारा तैयार किये गए कुछ प्रमुख रचनाएँ- ‘बाग-ओ-बहार- मीर अम्मन’ (प्रसिद्ध फ़ारसी ग्रंथ ‘किस्सए चहार दरवेश’ का सरल उर्दू में अनुवाद), ‘सिंहासन बत्तीसी- मिर्जा काजिम अली जवाँ’, ‘बैताल पच्चीसी- मजहर अली खाँ, ‘प्रेमसागर- लल्लूलाल’, ‘हातिमताई- हैदरबख्स’, ‘राजनीति- लल्लूलाल’, ‘लतायफ़-ए-हिंदी- लल्लूलाल’ ‘चंद्रावती- सदल मिश्र”[17] इसके अतिरिक्त भी अनेक ग्रंथों का निर्माण किया गया था। इनमें ज्यादातर पुस्तकें अनुदित हैं। गिलक्राइस्ट की भाषा-दृष्टि में उर्दू और हिंदी दो अलग-अलग भाषाएँ नहीं थी, अपितु वे इन्हें हिंदुस्तानी की ही शैलियाँ मानते थें। गिलक्राइस्ट हिंदुस्तानी की तीन शैलियाँ स्वीकार करते हैं-

1. दरबारी या फ़ारसी शैली- सिर्फ दरबार से निकटता होने के कारण गिलक्राइस्ट इसे महत्व नहीं देते हैं।

2. हिंदुस्तानी शैली- यह गिलक्राइस्ट की 'जेन्युइन' और 'दी ग्रैंड पॉपुलर स्पीच' है। इसमें अरबी-फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग किया जाता था। गिलक्राइस्ट इसके लिए नागरी के बजाय फ़ारसी लिपि को महत्व देते थें। मोटे तौर पर यह मूलतः उर्दू ही थी। हालांकि गिलक्राइस्ट भारतीय भाषाओं को रोमन लिपि में लिखने के पक्षधर थें।

3. हिंदवी शैली- गिलक्राइस्ट की दृष्टि में हिंदवी का प्रचलन सिर्फ हिंदुओं में है और उन्होंने इसे 'गँवारू' कहकर उपेक्षा की है।"[18]

जॉन गिलक्राइस्ट द्वारा उपर्युक्त विभाजन के पीछे हिंदी-हिंदुस्तानी की उनकी अपनी विशेष समझ काम कर रही थी। उनकी यह मान्यता थी कि मुसलमानों द्वारा भारत पर हमले और आगे चलकर यहाँ पर बस जाने से पूर्व, हिंदवी या हिंदुई भारत के लिए वही मायने रखती थी जो कि आज 'हिंदुस्तानी' रखती है। मुसलमानों के लगातार सफल आक्रमणों का परिणाम यह हुआ कि यह हिंदवी, अरबी, फारसी शब्दों से आप्लावित हो गयी और हिंदुस्तानी भाषा अस्तित्व में आयी। "जॉन गिलक्राइस्ट ने हिंदवी और ब्रजभाषा को संस्कृत और हिंदू से जोड़कर देखा तथा हिंदुस्तानी को अरबी व फ़ारसी और मुसलमानों से। उनकी दृष्टि में हिंदुस्तानी सिर्फ मुसलमानों की भाषा नहीं थी। उसका प्रचलन वे भारत के बड़े भूभाग और अधिसंख्य जनसमुदाय के बीच

स्वीकार करते हैं। दरअसल, अरबी और फ़ारसी के शब्दों को खड़ी बोली के साथ जोड़ने की गिलक्राइस्ट की अवधारणा गलत नहीं थी। समस्या इस दृष्टि में थी कि आगे चलकर हिंदू जनता हिंदवी की ओर बहुत ज्यादा झुकने लगें और इसके विपरीत मुस्लिम अवाम ने अपनी पक्षधरता अरबी-फारसी के प्रति प्रकट की। जॉन गिलक्राइस्ट की दृष्टि में हिंदुस्तानी के प्रति एक विशेष आकर्षण दिखाई पड़ता है। इसका एक कारण हिंदुस्तानी का प्रशासनिक दृष्टिकोण से बहुप्रचलित, बहुपयोगी और सम्मानजनक होना था। गिलक्राइस्ट की दिली इच्छा थी कि प्रशासनिक पदों पर जानेवाला कोई भी व्यक्ति मिलिटरी भाषा हिंदुस्तानी में बातचीत करने में दक्ष होना चाहिए।"[19] वे एक ऐसी भाषा में कम्पनी के अफसरों को पारंगत बनाना चाहते थें जो कि उन्हें देशी सिपाहियों और कर्मचारियों के बीच 'जेंटलमैन' का दर्जा दिला सके। यह रूतबा उस दौर में निश्चित तौर पर 'हिंदुस्तानी' को ही प्राप्त था। प्रशासन में भी उसका प्रभाव था और दरबारों में भी। सामाजिक प्रतिष्ठा के नजरिये से देखने पर उस दौर में 'हिंदवी' की स्थिति 'हिंदुस्तानी' के बनिस्पत कुछ कमजोर मालूम पड़ती है। गिलक्राइस्ट द्वारा हिंदवी को गँवारू कहने के पीछे संभवतः यही कारण है। गिलक्राइस्ट अंग्रेज अफसरों को परिनिष्ठित ज़बान हिंदुस्तानी में इस स्तर तक सुयोग्य बनाना चाहते थे कि वे इसमें देशी लोगों से भी बेहतर हो जाएँ। गिलक्राइस्ट की इस मानसिकता ने 'हिंदुस्तानी' को जनमानस और तथाकथित गँवारू ज़बान 'हिंदवी' से दूर करने का काम किया। इसी तरह की उनकी सोच लिपि के संबंध में भी देखी जा सकती है। रोमन लिपि के प्रति भी

उनकी दृष्टि में एक श्रेष्ठता का बोध और ईसाइयत के प्रचार में सुगमता की भावना मिलती है। गिलक्राइस्ट का मानना था कि “हिंदुस्तानी के लिए रोमन लिपि का चुनाव सबसे उपयुक्त है, क्योंकि इसमें प्राच्य ध्वनियों को अभिव्यक्त करने की पूरी क्षमता है।”[20] जॉन गिलक्राइस्ट की भाषा दृष्टि के मूल्यांकन का एक संदर्भ आर्थिक नजरिया भी माना जा सकता है। 'ओरिएंटल सेमिनरी' और 'फोर्ट विलियम कॉलेज' से जुड़ने से कई वर्ष पूर्व ही गिलक्राइस्ट 'हिंदुस्तानी' का अध्ययन शुरू कर चुके थें। हिंदुस्तानी संबंधी उनका समग्र चिंतन उनकी अपनी निजी आकांक्षाओं और जरूरतों के कारण विकसित हुआ था। उसका विकास ईस्ट इंडिया कम्पनी या अंग्रेजी सरकार की भाषा-नीति के तहत नहीं हुआ था। उस दौर में 'हिंदुस्तानी' का आर्थिक महत्व बहुत अधिक था। यह एक परिकल्पना है कि गिलक्राइस्ट का झुकाव 'हिंदुस्तानी' की फ़ारसीनिष्ठ और परिष्कृत शैली की ओर इसलिए भी हुआ क्योंकि उस समय प्रतिष्ठा के साथ-साथ यह आय का भी एक अच्छा माध्यम हो सकता था। डेविड कॉफ ने इस दृष्टि से जॉन गिलक्राइस्ट के व्यक्तित्व की पड़ताल की और पाया कि “1787 ई. में गिलक्राइस्ट ने बनारस में गैर-कानूनी तरीके से नील की खेती के लिए जमीन खरीदी। 1793 ई. में उन्होंने दूसरे यूरोपियों जो कि उसी इलाके में नील की खेती करने की मंशा रखते थें, से भिड़ने के लिए एक सेना ही तैयार कर ली थी।”[21] लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय की पुस्तक 'फोर्ट विलियम कॉलेज' से पता चलता है कि गिलक्राइस्ट अफीम की भी खेती करते थें। डेविड कॉफ यह संदेह अभिव्यक्त करते हैं कि जब गिलक्राइस्ट कलकत्ता पहुँचे होंगे तो

उन्हें यह एहसास हुआ होगा कि यहाँ 'हिंदुस्तानी' जानने वाले के पास आय का अच्छा अवसर है। इसलिए गिलक्राइस्ट पुस्तकों की रचना में लग गए। “फोर्ट विलियम कॉलेज की 'प्रोसीडिंग्स' में भी उनके ज्यादातर पत्र आर्थिक मामलों से संबंधित हैं। बहरहाल, फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में हिंदुस्तानी विभाग के प्रधान अध्यापक के रूप में जॉन गिलक्राइस्ट का कार्यकाल मात्र पाँच वर्षों (1800-1805 ई.) का रहा। उनका प्रभाव इतना अधिक था कि 1805 ई. में उनके भारत से वापस लौट जाने के बाद भी हिंदुस्तानी विभाग और उससे जुड़े लोग कई वर्षों तक उन्हीं की नीतियों के अनुसार कार्य करते रहें। कॉलेज में गिलक्राइस्ट के कार्यकाल में जितने बड़े पैमाने पर विद्वान अकादमिक कार्यों को संपन्न करने में सक्षम हो सकें, उतना भविष्य में कभी न हो सका। इस समय हिंदुस्तानी विभाग में जितने बड़े पैमाने पर सक्रियता देखी गयी, भविष्य में वह संख्या कभी प्राप्त न की जा सकी। इस कालखंड में जिन पुस्तकों का प्रणयन हुआ, बाद के वर्षों में अधिकांशतः उन्हीं के नये-नये संस्करण पुनर्मुद्रित होते रहे।”[22] अतः जॉन गिलक्राइस्ट के दौर को अकादमिक दृष्टि से फोर्ट विलियम कॉलेज का स्वर्ण युग कहा जा सकता है।

जॉन बॉर्थविक गिलक्राइस्ट के बाद हिंदुस्तानी विभाग के प्रधान अध्यापक (अध्यक्ष) का पद जेम्स मोअट को मिला। इनका कार्यकाल जनवरी, 1806 ई. - फरवरी, 1808 ई. तक रहा। इससे पूर्व कैप्टन जेम्स मोअट, गिलक्राइस्ट के प्रथम सहायक के तौर पर कार्यरत थें। भाषा-दृष्टि के विषय पर मोअट, गिलक्राइस्ट के प्रबल

समर्थक थें। हालांकि कुछ बिंदुओं पर दोनों के विचार में अलगाव देखा जा सकता है। “गिलक्राइस्ट हिंदवी को 'गँवारू' मानते थे, किंतु उन्होंने उसे खारिज़ नहीं किया। उन्होंने लल्लूलाल और सदल मिश्र को अपने हिंदुस्तानी विभाग में मुंशी का स्थान दिया था, उनसे रचनाएँ लिखवायी तथा ब्रज भाषा के व्याकरण के महत्व को प्रतिपादित किया था। इसके विपरीत जेम्स मोअट ने हिंदवी और भाषा मुंशियों की कोई आवश्यकता ही नहीं समझी। इतना ही नहीं हिंदुस्तानी विभाग के अध्यक्ष के पद पर नियुक्त होने से पूर्व ही जेम्स मोअट ने 09 मई, 1804 ई. को कॉलेज काउंसिल को एक पत्र लिखकर लल्लूलाल और सदल मिश्र को हिंदुस्तानी विभाग से अलग कर देने की सिफारिश की। उनकी सिफारिश पर दोनों ही मुंशियों को कॉलेज से अलग कर दिया गया, किंतु तीन-साढ़े तीन महीने के भीतर ही उनकी जरूरत समझकर पुनः उन्हें विभाग में रख लिया गया, साथ ही उनका पिछला वेतन भी दिया गया। जेम्स मोअट के कार्यकाल में ही ईस्ट इंडिया कम्पनी ने कॉलेज में पहली बड़ी वित्तीय कटौती की थी। प्रोफेसरों, मुंशियों की संख्या भी घटाई गयी, वेतन में भी कमी की गयी और समग्र रूप से कॉलेज के संचालन में हो रहे खर्चे में कटौती कर कॉलेज को कुछ खास विषयों तक सीमित कर दिया गया।”[23] हिंदुस्तानी विभाग के अध्यक्ष के रूप में जेम्स मोअट का कार्यकाल लगभग दो वर्ष का था। इस दौरान मोअट का अपना कोई विशेष योगदान नहीं दिखाई पड़ता है। इस कार्यकाल के दौरान कोई नया ग्रंथ नहीं उद्भुत हुआ। फरवरी, 1808 ई. में मोअट ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया।

जेम्स मोअट के बाद हिंदुस्तानी विभाग का दायित्व कैप्टन जॉन विलियम टेलर को दिया गया। जॉन विलियम टेलर सर्वाधिक लंबे समय तक (1808-1823 ई.) हिंदुस्तानी विभाग के प्रधान अध्यापक रहे। टेलर पहले से ही हिंदुस्तानी भाषा के क्षेत्र में कार्य कर रहे थें। संभवतः इसीलिए कॉलेज काउंसिल ने उन्हें हिंदुस्तानी विभाग में प्रधान अध्यापक पद के लिए चुना था। यद्यपि जॉन विलियम टेलर, जॉन गिलक्राइस्ट की तरह क्षमतावान नहीं थें, तथापि टॉमस रोएबक, विलियम प्राइस और तारिणीचरण मित्र जैसे विद्वत जनों का पूर्ण सहयोग मिलने के कारण, 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' की गलत नीतियों के दबाव में भी हिंदुस्तानी विभाग को सफलतापूर्वक संचालित करते रहें। "गिलक्राइस्ट की भाषा-दृष्टि फ़ारसीनिष्ठ हिंदुस्तानी थी, किंतु साम्राज्य विस्तार के साथ-साथ कम्पनी को यह एहसास हुआ कि आम जनता की भाषा इतनी फ़ारसीनिष्ठ नहीं है। इसलिए कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स ने हिंदवी/हिंदुवी और नागरी पर ध्यान देने की बात कही। जॉन विलियम टेलर की यह समझ थी कि हिंदुस्तानी का अधिक महत्व होने के बावजूद भी 'हिंदी' का अध्ययन आवश्यक है। फोर्ट विलियम कॉलेज में हिंदुस्तानी से अलग 'हिंदी' का आधुनिक अर्थों में प्रयोग की शुरूआत यहीं से दिखायी पड़ती है। टेलर और रोएबक दोनों ही हिंदुस्तानी के समर्थक थें, लेकिन कॉलेज में 'हिंदी' की खराब स्थिति में सुधार लाने के लिए प्रयासरत रहें।"[24] जॉन विलियम टेलर के कार्यकाल में हिंदी-हिंदुस्तानी के कुछ नये ग्रंथ तैयार हुए, कुछ अनुवाद कार्य हुए, पुराने ग्रंथों के नये संशोधित संस्करण प्रकशित हुए, साथ ही ग्रंथकर्ताओं को

पुरस्कृत करने का कार्य भी किया गया। टेलर के तीन बड़े सहयोगियों- टॉमस रोएबक, विलियम प्राइस और तारिणीचरण मित्र– ने भी अपने-अपने कार्य क्षेत्र में उम्मीद से बढ़कर कार्य किया। टॉमस रोएबक हिंदुस्तानी विभाग में बतौर सहायक प्रोफेसर अध्यापन कार्य कर रहे थें। 1819 ई. में अपने निधन से पहले टॉमस रोएबक कई महत्वपूर्ण योगदान कर गये थें :

1. ब्रिटिश इंडियन मॉनीटर
2. हिंदुस्तानी एंड इंग्लिश डायलॉग्स
3. ऐन इंग्लिश एंड हिंदुस्तानी डिक्शनरी विद अ ग्रामर प्रीफिक्स्ड
4. एनाल्स ऑफ दी कॉलेज ऑफ फ़ोर्ट विलियम
5. इंग्लिश एंड हिंदुस्तानी नैवल डिक्शनरी ऑफ टेक्निकल वर्ड्स एंड फ्रेजेज"[25]

इसके अतिरिक्त वे कई ग्रंथों के निर्माण में सहयोग भी कर रहे थें।

इसी तरह विलियम प्राइस हिंदुस्तानी विभाग के अंतर्गत ब्रज भाषा (भाखा) और पूर्वी भाषा के अध्यापन कार्य का निर्वहन कर रहे थें। फ़ोर्ट विलियम कॉलेज में 'हिंदी' की पुस्तकें उपलब्ध कराने के लिए प्राइस निरंतर प्रयासरत रहें। "प्राइस की सहायता के लिए 23 सितम्बर, 1823 ई. को गंगाप्रसाद शुक्ल की नियुक्ति भाषा (भाखा) पंडित के रूप में हुई। विलियम टेलर के तीसरे प्रमुख सहयोगी तारिणीचरण मित्र बहुत ही योग्य मुंशी थें। जॉन गिलक्राइस्ट से लेकर विलियम प्राइस तक सबों ने उनके काम को सराहा है। तारिणीचरण मित्र ने टॉमस रोएबक को कोश तैयार करने में भरपूर मदद की, साथ

ही उन्होंने विद्यापति के संस्कृत ग्रंथ 'पुरुष परीक्षा' का हिंदुस्तानी अनुवाद भी प्रस्तुत किया।"[26] 1823 ई. में विलियम टेलर पदोन्नत होकर लेफ्टिनेंट कर्नल बन गए। कार्यभार की अधिकता के कारण अब वे हिंदुस्तानी विभाग का दायित्व निभाने में असमर्थ थे। अतः गवर्नर जनरल की काउंसिल ने उनके स्थान पर कैप्टन विलियम प्राइस को हिंदुस्तानी विभाग का प्रधान अध्यापक नियुक्त कर दिया।

कैप्टन विलियम प्राइस ने 20 नवम्बर, 1823 ई. से हिंदुस्तानी विभाग के प्रधान अध्यापक का पदभार संभाला। विलियम प्राइस फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के इतिहास में एकमात्र ऐसे प्रोफेसर हुए जिन्होंने 'हिंदी' को हिंदुस्तानी पर वरीयता दिया था। विलियम प्राइस जब सहायक प्रोफेसर थें (विलियम टेलर के कार्यकाल में) तब से ही उन्होंने 'हिंदी' को आधुनिक अर्थों में ग्रहण किया था और इसे हिंदुस्तानी से अधिक महत्वपूर्ण बताया था। जॉन गिलक्राइस्ट के भारत से लौट जाने के बाद भी जेम्स मोअट के कार्यकाल में पूर्णतः और जॉन विलियम टेलर के कार्यकाल में अधिकांशतः गिलक्राइस्ट की भाषा-दृष्टि का ही प्रभाव बना रहा। विलियम प्राइस के कार्यकाल में यह धारा टूटती दिखाई पड़ती है। विलियम प्राइस ने पहली बार गिलक्राइस्ट की भाषा-दृष्टि के विरोध में खडे होने का सामर्थ्य दिखाया। जिस तरह गिलक्राइस्ट की रूचि फ़ारसी में थी, उसी तरह प्राइस की रूचि संस्कृत और ब्रजभाषा में थी। हिंदुस्तानी विभाग के प्रोफेसर बनने के बाद उन्होंने कॉलेज में अपनी भाषा-दृष्टि को लागू करवाने के प्रयास आरंभ किये। प्राइस की भाषा दृष्टि को समझने के लिए इन दो बेहद महत्वपूर्ण स्रोत सामग्री पर गौर करना जरूरी है- "हिंदी और हिंदुस्तानी

सेलेक्शंस, भाग-1' की भूमिका और कॉरेसपॉण्डेसेज ऑफ दी कॉलेज ऑफ फोर्ट विलियम' में संकलित विलियम प्राइस का पत्र। अपने पत्र में विलियम प्राइस ने यह कहा है कि हिंदी के कई रूप प्रचलित हैं, किंतु उन सभी रूपों का व्याकरण एक समान है। प्राइस ने इस पत्र के माध्यम से कम्पनी के अधिकारियों का ध्यान प्रशासन और उच्च वर्ग की हिंदुस्तानी से हटाकर जनसामान्य की भाषा 'हिंदी' की ओर मोड़ा। उनका दृढ़ मत है कि प्रशासनिक कार्यालय जनसामान्य की भाषा में ही जनसामान्य का सहयोग कर सकते हैं। विलियम प्राइस ने हिंदी-हिंदुस्तानी के संबंध में वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया है : प्राइस ने हिंदी-हिंदुस्तानी व्याकरण का आधार ब्रजभाषा को नहीं, अपितु खड़ी बोली को माना है। उन्होंने गिलक्राइस्ट की हिंदुस्तानी 'दी ग्रैंड पॉपुलर स्पीच' की अवधारणा का मूल्यांकन किया और यह निष्कर्ष दिया है कि यह हिंदुस्तानी उच्च वर्ग और प्रशासन के ज्यादा निकटस्थ है और जनसामान्य से सही संपर्क साधने में सक्षम नहीं है। प्राइस ने हिंदी को हिंदुस्तानी से स्पष्टतः अलग माना है। उनकी दृष्टि में संस्कृत और हिंदी दोनों का व्याकरण अलग-अलग है। शब्दों की दृष्टि से संस्कृत का महत्व है। हिंदी-हिंदुस्तानी का मूल भेद उन्होंने लिपि और शब्दों के आधार पर माना है।"[27] इस तरह विलियम प्राइस ने गिलक्राइस्ट की भाषा-दृष्टि की कमियों को पहचाना और उसे अल्पांश ही सही लेकिन सुधारने का प्रयास भी किया। प्राइस की भाषा-दृष्टि जनसामान्य की समस्याओं को थोड़ी 'सुगम' अवश्य करती है, किंतु धार्मिक विभाजन की रेखा को और अधिक गहरी भी करती है। यह विलियम प्राइस की भाषा-दृष्टि की कमी कही जा सकती है कि इसमें हिंदू जनता को अलग से इंगित किया गया। विलियम

प्राइस ने जॉन गिलक्राइस्ट के प्रभाव में हिंदी हिंदुस्तानी भेद को धार्मिक आधार पर जरूर स्वीकार किया है, लेकिन हिंदुस्तानी शैली को भारत की 'दी ग्रैंड पॉपुलर स्पीच' और 'जनरल कोलोक्यिल लैंग्वेज' मानने से स्पष्ट रूप से इंकार कर दिया, जिसे गिलक्राइस्ट प्रचलित कर रहे थें। ईस्ट इंडिया कम्पनी का चरित्र फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के संदर्भ में कभी भी एक समान नहीं रहा है। प्रारंभ में कम्पनी का झुकाव गिलक्राइस्ट की भाषा-दृष्टि के प्रति था, क्योंकि यह उस दौर में सहज और लाभप्रद थी। कम्पनी ने हिंदुस्तानी को स्वीकार करके हिंदी-उर्दू का भेद हमेशा के लिए स्थापित कर दिया। आगे चलकर, कम्पनी के साम्राज्य में विस्तार हुआ। अब उसकी जरूरतें और दायित्व बदलने लगे। परिणामस्वरूप कम्पनी ने गिलक्राइस्ट को छोड़कर विलियम प्राइस की भाषा-दृष्टि को स्वीकार कर लिया। “विलियम प्राइस के कार्यकाल के दौरान ईस्ट इंडिया कम्पनी पर आंग्लवादियों का दबाव बढ़ता ही गया। प्राइस के कार्यकाल में कॉलेज की आर्थिक सहायता बहुत ही कम कर दी गयी, साथ ही उस पर अनुशासनहीनता का आरोप भी लगाया जा रहा था। 1829 ई. में ‘कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स’ ने गवर्नर जनरल विलियम बेंटिक के समक्ष यह प्रस्ताव रखा कि कॉलेज को क्यों न तोड़ दिया जाए? 1830 ई. में फ़ोर्ट विलियम कॉलेज के तीनों प्रोफेसर पद को तोड़ देने की आज्ञा दे दी गयी। कैप्टन प्राइस, लेफ्टिनेंट आउजले और लेफ्टिनेंट टॉड को परीक्षक बना दिया गया और कई अध्यापकों को अलग कर उनके लिए पेंशन की व्यवस्था कर दी गयी। दिसम्बर, 1831 ई. में विलियम प्राइस कॉलेज से अवकाश ग्रहण

कर यूरोप चले गये। 30 दिसम्बर, 1831 ई. को विलियम प्राइस को उनके योगदानों के लिए प्रमाण-पत्र दिया गया।"[28] विलियम प्राइस के जाने के बाद फोर्ट विलियम कॉलेज और हिंदुस्तानी विभाग के इतिहास में कुछ भी महत्वपूर्ण कार्य नहीं हुआ। दो-चार मुंशी बचे हुए थें, जिससे कॉलेज के अस्तित्ववान होने का पता चलता है। फरवरी, 1854 ई. में सरकारी आज्ञापत्र से कॉलेज को बंद कर दिया गया। तत्पश्चात् 'बोर्ड ऑफ एग्जामिनर्स' का गठन कर विद्यार्थियों की परीक्षा आदि की व्यवस्था कर दी गयी। अब हिंदी और उर्दू की अलग-अलग पाठ्य सामग्री निर्धारित कर दी गयी तथा दोनों की पृथक्-पृथक् परीक्षा आयोजित करने की व्यवस्था कर दी गयी।

संदर्भ-संकेत

1. Datta, K.K.; A Social History of India; Page 2-3.

2. "Excuses, however, may be found for our ignorance concerning the learning, religion and philosophy of the Brahmins. Literary inquiries are by no means a capital object to many of our adventures in Asia."; उपर्युक्त, पृ. 68.

3. "Lord William Bentinck's letter to the committee of public instructions in Bengal on 26th June, 1829, impressed with a deep conviction of the subject, and cordially disposed to promote the great object of improving India by spreading abroad the lights of European knowledge, moral and civilisation, His Lordship in council has no hesitation in stating to your committee and in authorising you to announce to all concerned... that it is the wishes and admitted policy of the British Government to render its own language gradually and eventually the language of public business throughout the country..." Adhya, G.L.; History of Education Unit; National Institute of Education; New Delhi; page 29. "We do not deny the value in many respects of the mere faculty of speaking and writing in English, but we fear that a tendency has been created in these districts unduly the neglect of the study of the vernacular languages." (Report of the Seminar on Historical Survey of Language (Medium of Instruction) Controversy. Santi Niketan, March 4 to 9, 1968).

4. शुक्ल, रामचन्द्र, हिंदी साहित्य का इतिहास; मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर; संस्करण : 2009, पृष्ठ-307.

5. उपर्युक्त, पृ. 307.

6. उपर्युक्त, पृ. 310.

7. उपर्युक्त, पृ. 310

8. उपर्युक्त, पृ. 311

9. Burnes, R; Chief Secretary's Correspondence; Introduction of Hindi as a Court Language-1907.; File 24, Box 110; General Administration Department; Page 15, U.P. State Archives Lucknow.

10. https://brainly.in/question/15189187

11. Burns, R.; Introduction of Hindi as a Court Language; Page 20.

12. वार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर; फोर्ट विलियम कॉलेज (1800-1854); राजस्थान प्रेस, बम्बई; पृ. 30

13. Pearce, R.R.; Memoirs and Correspondence of the Most Novel Richard Marquess Wellesley; Volume 2, Page 184. Martin, Montgomery (Editor); The Despatches, Minutes and Correspondence of the Marquess Wellesley, K.G.: During his Administration in India; Volume 2, Page 732.

14.वार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर; फोर्ट विलियम कॉलेज (1800-1854); राजस्थान प्रेस, बम्बई; पृ. 30-31.

15.Pearce, R.R.; Memoirs and Correspondence of the Most Novel Richard Marquess Wellesley; Volume 2, Martin, Montgomery (Editor); वही; पृ. 639-640.

16.Proceedings of the Collegte of Fort William (1801-54); 19 भागों में, देखें- Home Department, Miscellaneous Records; भाग 559.

17.गिलक्राइस्ट, जॉन बॉर्थविक; दी ओरिएंटल लिंग्विस्ट, पृ. IV.

18.किदवई, सदीकुर्रहमान; गिलक्राइस्ट एंड दी लैंग्वेज ऑफ हिंदुस्तान; पृ. 90.

19.गिलक्राइस्ट, जॉन बॉर्थविक; दी हिंदी रोमन ऑर्थोएपिग्राफिकल अल्टिमम; पृ. VII.

20.उपर्युक्त, पृ. CXIII

21.कॉफ, डेविड; ब्रिटिश ओरिएंटलिज्म एंड बंगाल रेनेसाँ; पृ. 31

22.शीतांशु; कम्पनी राज और हिंदी (संदर्भ: फ़ोर्ट विलियम कॉलेज); राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; पृ. 69.

23.उपर्युक्त, पृ. 69.

24.वार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर; फ़ोर्ट विलियम कॉलेज (1800-1854 ई.), पृ. 86.

25.शीतांशु; कम्पनी राज और हिंदी (संदर्भ: फोर्ट विलियम कॉलेज); पृ. 72.

26.वार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर; फ़ोर्ट विलियम कॉलेज (1800-1854 ई.), पृ. 101.

27.शीतांशुः कम्पनी राज और हिंदी (संदर्भ: फोर्ट विलियम कॉलेज); पृ. 113-114.

28.वार्ष्णेय; लक्ष्मीसागर; फ़ोर्ट विलियम कॉलेज (1800-1854 ई.); पृ. 135.

अध्याय : दो

औपनिवेशिक काल में हिंदी भाषा सम्बन्धी विमर्श का जातीय स्वरूप

2.1 सर सैयद अहमद खान का भाषा-चिंतन

औपनिवेशिक काल में भाषा का सवाल एक अहम् मुद्दा रहा है। उस समय जो लोग भाषा की राजनीति कर रहे थे, उनमें एक समझदार वर्ग हिंदी और उर्दू विद्वानों का था। यह वर्ग इस भाषाई विमर्श के प्रति स्वस्थ वैज्ञानिक दृष्टि रखता था। इस सम्बन्ध में हिंदी और उर्दू के दो प्रतिष्ठित विद्वान रचनाकारों के विचार उल्लेखनीय हैं। प्रथम उर्दू के प्रसिद्ध समीक्षक, इतिहासकार और शब्दकोश निर्माता मौलाना डॉ. अब्दुल हक ने स्पष्ट स्वीकार किया है, 'विलाशुबहा उर्दू का जन्म हिंदी से हुआ है।' दूसरे हिंदी कहानी के प्रसिद्ध कहानीकार, शोध-मर्मज्ञ पं. चंद्रधर शर्मा गुलेरी (1883-1922) ने घोषित किया था 'आधुनिक हिंदी का जन्म उर्दू से हुआ है।' मौलाना अब्दुल हक ने साफ शब्दों में लिखा है, "हिंदी, हमारी महबूब जवान उर्दू के लिए...बमंजिले जमीन (आधारभूमि) है। इसी जमीन पर फारसी और अरबी के पौधे लगाये गये। इसी तख्त पर गैर जवानों ने गुलकारी की है। अगर यह जमीन निकाल दी जाये तो उर्दू जबान का नामोनिशान बाकी नहीं रहेगा। हिंदी को हम अपनी जबान के लिए उम्मुलिस्सान (भाषा की जननी) और हमलाये अब्बल (मूल तत्व) कह सकते हैं। उसके बगैर हमारी जवान की कोई हस्ती नहीं है।... जो लोग हिंदी से मुहब्बत नहीं करते वह उर्दू जबान के हामी नहीं हैं। फारसी, अरबी या किसी दूसरी जवान के हामी हों तो हों।"[1]

पं. चंद्रधर शर्मा गुलेरी ने अपनी अद्भुत शोधपरक पुस्तक 'पुरानी हिंदी' में

लिखा है, "खड़ी बोली या पक्की बोली या रेख्ता या वर्तमान हिंदी के आरम्भकाल के गद्य और पद्य को देख कर यही जान पड़ता है कि उर्दू रचना में फारसी अरबी तत्सम या तद्भवों को निकाल कर संस्कृत या हिंदी तत्सम या तद्भव रखने से हिंदी बना ली गयी है।"[2]

दरअसल मुगलों के समय से अदालतों में फारसी का बोलबाला था। लेकिन जैसे-जैसे हिंदी और उर्दू अस्तित्त्व में आई, भाषा का विवाद भी सांप्रदायिक रूप लेता गया। हिंदी को हिन्दुओं की भाषा और उर्दू को मुसलमानों की भाषा कह कर प्रचारित किया गया। हाँ ये बात सच है कि मुगलकाल में फारसी को प्रधान भाषा के रूप में जगह दी गई और साहित्यिक क्षेत्र में हिन्दुस्तान की अनेक बोलियों में साहित्य रचा गया जिन्हें आगे चलकर भाषाई रूप प्रदान हुआ। ये सब बोलियाँ हिंदी परिवार से थीं, जिन्होंने हिंदी साहित्य को व्यापक रूप में फैलाया। धीरे-धीरे यह माँग जोर पकड़ती गई कि अदालतों से उर्दू-फारसी को खत्म किया जाये और हिंदी देवनागरी को प्रतिष्ठित किया जाये। यह शुरुआत ठीक ब्रिटिश हुकूमत के सोच के अनुरूप ही हुई और धीरे-धीरे उसी दिशा में आगे बढ़ी-जैसा उन्होंने सोच रखा था। हिंदी-देवनागरी और उर्दू-फारसी को लेकर शिवप्रसाद सितारेहिन्द बनाम सैयद अहमद खान के बीच टकराव सामने आने लगा। इसका फायदा अंग्रेजों ने उठाया। एक बार किसी अवसर पर सर सैयद अहमद खान ने तत्कालीन बनारस के कमिश्नर शेक्सपियर और उनके सपरिवार की जान बचायी थी। शेक्सपियर लिखते हैं, "आज यह पहला अवसर है कि मैंने तुमसे विशेष रूप से मुसलमानों की तरक्की का जिक्र सुना है। इससे पहले तुम आम हिन्दुस्तानियों की भलाई की बात करते थे।"[3]

सर सैयद अहमद खान पढ़े-लिखे तेज-तर्रार मुस्लिम थे। वह मुस्लिमों की शिक्षा और आधुनिक विचार के पक्षधर थे। वह इस्लाम में रूढ़ियों और आडम्बरों के विरोधी थे। वह चाहते थे कि मुस्लिम वर्ग जागरूक हो और अपनी तरक्की के लिए प्रयासरत हो। इसलिए उन्होंने मुसलमानों से आह्वान किया कि उर्दू की रक्षा में अब संगठित हो जाना है और बिना किसी देर के 'अंजुमन-ए-हिमायत ए-उर्दू' नाम से ही एक संगठन खड़ा कर दिया। हिंदी-उर्दू दोनों के पैरोकारों में से किसी ने इस पर विचार नहीं किया कि असल में ये दोनों तो एक ही भाषा हैं, जबकि मसला सिर्फ लिपि का है। अब उर्दू के साथ-साथ हिंदी को भी शिक्षा माध्यम बनाने और उसमें भी पाठ्य पुस्तकें तैयार करने के सुझाव और मांग सामने आने लगे। मौलाना हाली ने 'हयाते जावेद' में एक दिलचस्प व्याख्या की है। उनके अनुसार इसका अर्थ था 'उर्दू मुसलमानों के लिए' और 'हिंदी हिन्दुओं के लिए।' उत्तर भारत में भाषा के प्रश्न पर साम्प्रदायिक दृष्टिकोण का सम्भवतः यह पहला संकेत है। हिंदी के खिलाफ एक तर्क यह भी दिया गया कि उसका गद्य अभी पर्याप्त विकसित नहीं था। दरअसल इस तर्क के समय यह वैज्ञानिक तथ्य नजरअंदाज कर दिया कि दोनों के क्रियापद, अव्यय, सर्वनाम और कारक चिह्न एक ही थे। इन समानताओं के साथ यदि एक सक्षम थी तो दूसरी अक्षम कैसे हो सकती थी। मुसलमान उर्दू और हिन्दू हिंदी की बात को खुद मौलाना हाली द्वारा ही दिया गया एक महत्वपूर्ण तथ्य निरस्त कर देता है। पाठ्य पुस्तकों के उर्दू अनुवाद में संलग्न जिन तीन प्रमुख विद्वानों का उल्लेख उन्होंने किया है उनमें दो मास्टर प्यारे लाल और पं. धर्मनारायन हिन्दू ही थे जबकि सिर्फ एक मौलवी जकाउल्लाह ही मुसलमान थे। पर जो भी हो उर्दू और हिंदी को चश्मे से देखने की यह शुरुआत थी। इसकी दुर्भाग्यपूर्ण परिणति 'हिंदी हिन्दू हिन्दुस्तान' के भाषायी नारे में हुई।

उर्दू के साथ हिंदी की सहभागिता की मांग के भी दो पक्ष थे। एक पक्ष का कहना था अरबी फारसी की शब्दावली से बोझिल उर्दू की जगह सरकारी कामकाज में ऐसी भाषा प्रयोग में लायी जाये जो आसानी से समझी जा सके। जहां तक लिपि की बात है उसे नागरी और फारसी दोनों लिपियों में लिखने का विकल्प रहे। दूसरे पक्ष का आग्रह या भाषा भले ही उर्दू हो पर हिंदी वालों की सुविधा के लिए उसे नागरी लिपि में भी लिखा जाये। सन् 1803 में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने प्रत्येक जिले में कलेक्टरों और जजों को निर्देश दिया कि सरकारी कामकाज में दोनों लिपियों और भाषाओं का प्रयोग किया जाये। यह निर्देश सन् 1836 तक लागू रहा।

अलीगढ़ इंस्टीच्यूट गजट 1868 ई. में छपे एक खत में लिखा है, “हमारी कचहरियों की जबान वही मिली-जुली जबान होनी चाहिए जिसे आप हिंदी कहते हैं और मैं उर्दू, इस सवाल पर बहस बेकार है कि यह नागरी, रोमन या फारसी लिपि में लिखी जाए।”[4] इतनी साफगोई होने के बाद भी हिंदी और उर्दू के बीच खाई पैदा होती गई। सर सैयद अहमद खान भाषा के मुद्दे पर अंग्रेजों से अपने पक्ष में फैसला कराते रहे। हिंदी समर्थक उनका विरोध करते रहे। इसका फायदा अँग्रेजों ने खूब उठाया। “1869 ई. में मोहसिन-उल-मुल्क को लिखे एक खत में उन्होंने लिखा कि फारसी लिपि में लिखी उर्दू मुसलमानों की निशानी है।”[5] यहाँ बात सिर्फ विचार बदलाव की नहीं थी, अब उनमें पर्याप्त तल्खी भी आ गयी थी। उन्होंने “हिंदी को सदियों पुरानी एक मरी हुई भाषा और उर्दू को समूचे हिन्दुस्तान की भाषा बता दिया।”[6] दोनों ओर से अत्यन्त उग्र और स्तरहीन स्तर पर विवाद होने लगे। मामला बिल्कुल गर्म था और ठीक ऐन मौके पर अँग्रेजों ने अपना खेल खेल दिया। बंगाल के गवर्नर कैम्पवेल (1871-74) ने 1872

ई. में फरमान जारी कर दिया-पटना और भागलपुर अंचलों के प्रशासन और निचली अदालतों में देवनागरी में लिखी हिंदी का इस्तेमाल होगा। हिन्दुओं ने गद्गद होकर आदेश की प्रशंसा की। जगह-जगह हिंदी प्रचार सभा का गठन किया। मुसलमानों ने तीखी भर्त्सना की। यहाँ से यह विष-वमन और तेज हो गया। यह बात भाषा की नहीं थी, यह बात सैयद अहमद अच्छी तरह समझ रहे थे।

'हयाते जावेद' में मौलाना हाली का मानना है कि सन् 1867 में हिंदी के पक्ष में सक्रिय कुछ विशिष्ट हिन्दुओं के उर्दू विरोध के पीछे मुख्य कारण अरबी-फारसी के शब्दों से समृद्ध उर्दू का मुसलमानों के प्रशासनिक संरक्षण में विकसित होना था। उर्दू हिंदी के प्रश्न को साम्प्रदायिक रंग देने की यह शुरुआत थी। हिंदी के पक्षधर के रूप में हाली ने इलाहाबाद के बाबू फतह नारायन सिंह और बाबू शारदा प्रसाद शांडिल्य के नामों का खास जिक्र किया है। उस समय जनता जो जुबान बोलती थी वह हिंदी थी और वही उर्दू। उस समय मुकम्मल तौर पर उर्दू विकसित रूप में ज्यादा फैली हुई थी। उसमें जितनी पत्र-पत्रिकाएँ, साहित्य और अनुवाद कार्य हो चुके थे, उसके सामने हिंदी कहीं नहीं थी। अब बात पूरी तरह देवनागरी लिपि की थी। मगर 'हिंदी, हिन्दू, हिन्दुस्तान' के बीजारोपण में कट्टर-समर्थकों ने भी बेड़ा नरक किया। सर सैयद अहमद खान ने एक लम्बे समय तक साम्प्रदायिक सौहार्द वाली भाषा कायम रखी और उग्रता में जाने से बचते रहें। इनके मना करने के बावजूद शिक्षा कमीशन में भी उर्दू का विरोध शुरू हो गया जबकि बकौल सैयद साहब, मामला वैसा नहीं था।

अतः बिहार क्षेत्र की अदालतों और सरकारी दफ्तरों में उसके इस्तेमाल के लिए

उन्होंने विधिवत आदेश जारी कर दिये। पर उत्तर पश्चिम प्रांत (वर्तमान उत्तर प्रदेश) में स्थिति जस की तस थी। सन् 1877 में प्रांत के गवर्नर सर विलियम म्योर ने एक सरकारी आदेश जारी कर दस रुपये प्रति माह् से अधिक की सभी नौकरियों के लिए उर्दू की विशेष कुशलता अनिवार्य कर दी थी। इसके खिलाफ हिंदी समर्थक कुछ कर नहीं सकें। हां, हिंदी पत्र-पत्रिकाओं ने इसके विरोध में सक्रियता अवश्य दिखायी। सरकारी आदेश के सामने असमर्थता के बावजूद उसके विरुद्ध हिंदी वालों में असंतोष अंदर ही अंदर सुलगता रहा। अंततः सन् 1896 में उक्त आदेश वापस लिया जा सका। पर इन उन्नीस सालों के दौरान दोनों भाषाओं और लिपियों के समर्थक समुदायों में कटुता निरंतर बढ़ती गयी। इसके फलस्वरूप उर्दू को ज्यादा से ज्यादा अरबी फारसी बहुल और हिंदी को अधिक से अधिक संस्कृतनिष्ठ बनाने की होड़ लग गयी।

उत्तर पश्चिम प्रांत के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर सर मैक्डोनेल ने मालवीय जी की याचिका पर... 'नागरी और फारसी लिपियों' की जगह 'हिंदी और उर्दू भाषाओं को कर दिया था। इससे साफ है कि सरकारी दफ्तरों और अदालतों में बाबुओं की भर्ती के लिए दोनों भाषाओं का अच्छा ज्ञान अनिवार्य कर दिया गया था। मालवीय जी ने हिंदी/नागरी के सवाल को प्रांत में अत्यंत पिछड़े शिक्षा प्रसार से जोड़ दिया था। उन्होंने याचिका में स्पष्ट किया था कि सरकार एक तरफ हिंदी/नागरी के माध्यम से प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिए पाठशालाओं को आर्थिक अनुदान आदि से सहायता देती थी, वहीं दूसरी ओर उनसे पढ़ कर निकले नौजवानों के लिए अदालतों और सरकारी दफ्तरों में रोजगार के रास्ते बंद कर रखे थे। यदि हिंदी/नागरी को सरकारी और अदालती कामकाज के लिए मान्यतायोग्य नहीं समझा

जाता तो उसके माध्यम से शिक्षा व्यवस्था को बंद कर देना चाहिए। यहां सर सैय्यद के बाद दी गयी भारतेन्दु हरिश्चंद्र की गवाही के एक महत्वपूर्ण अंश पर निगाह डालना दिलचस्प होगा। स्वयं को शिक्षा में सदैव गहरी अभिरुचि रखने वाला संस्कृत, हिंदी और उर्दू का कवि बताते हुए उन्होंने आयोग के सामने कहा था, "मुझे यह जान कर बहुत दुख हुआ कि माननीय सैय्यद अहमद खान बहादुर सी.एस.आई. ने शिक्षा आयोग के सामने कहा है कि उर्दू शरीफों की जवान है और हिंदी गंवारों की जबान ये बयान न सिर्फ गलत है बल्कि हिन्दुओं के प्रति अन्यायपूर्ण भी।"[7]

भारतेन्दु ने तो हंटर कमीशन के सामने स्वयं को हिंदी संस्कृत के साथ उर्दू का भी कवि बताया ही था। इसके बरअक्स सर सैय्यद सहित उर्दू समर्थकों में शायद ही कोई ऐसा था जो अच्छी तरह हिंदी भाषा और नागरी लिपि का जानकार था। हिंदी के खिलाफ उनके पास बार बार दुहराने के लिए दो ही बातें थीं- वह अदालती और दूसरे सरकारी कामकाज के लिए अविकसित गंवारों की भाषा थी। ये भाषा के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिसम्पन्न किसी भी तटस्थ व्यक्ति को मान्य नहीं हो सकता था। उर्दू को लेकर उसके पैरोकारों में एक अत्यंत भावुक दृष्टि थी जिसका तर्कसंगत आधार ढूंढ पाना मुश्किल था। सैयद अहमद कांग्रेस गठन के पूर्व तक हिन्दू-मुस्लिम एकता की बात करते रहे थे। बाद में उनके भीतर यह यकीन गहरा हो गया कि हिन्दू, मुसलमान एक कौम नहीं हो सकतीं और दोनों में एकता असम्भव है।

सर सैयद अहमद खां के लम्बे कर्ममय जीवन का अंत 27 मार्च 1898 को हुआ था। गम्भीर अस्वस्थता और अवसाद के बीच मृत्यु के लगभग दस दिन पूर्व उन्होंने उर्दू और फारसी लिपि के समर्थन में एक अत्यंत सशक्त भावपूर्ण लेख लिखा । 'अलीगढ़

गजट' में यह 19 मार्च को प्रकाशित हुआ। सर सैयद को पूरा यकीन था कि हिंदी नागरी समर्थकों का अभियान साम्प्रदायिकता से प्रेरित था। यह सोच शायद बिल्कुल निराधार नहीं थी। पर यह उतना ही सच उर्दू और फारसी लिपि के पैरोकारों के बारे में भी था।

19 मार्च सन् 1898 को अलीगढ़ गजट में छपा लेख सर सैय्यद के कर्मठ जीवन का अंतिम लेख था। हिन्दुस्तान के इतिहास में उर्दू भाषा और फारसी लिपि को मुसलमानों का अमिट सांस्कृतिक हस्ताक्षर मानना सर्वथा उचित होगा। सन् 1869 में जो बात उन्होंने निजी पत्र में कहीं थी, सन् 1898 में लगभग तीन दशक बाद अब उसे सरेआम कहने में उन्हें कोई संकोच नहीं था। हिंदी नागरी के पक्ष में हिन्दू अभियान को उन्होंने मुसलमानों की एक महत्वपूर्ण भाषाई सांस्कृतिक पहचान मिटाने का षड्यंत्र मान लिया था।

अपने एक लेख का उपसंहार करते हुए सर सैय्यद ने कहा था कि 'हममें अब यह मानने की हिम्मत होनी चाहिए कि जो तालीम हमारे हिन्दू नौजवानों को मुसलमानों से नफरत करना सिखा रही है वही एक दिन उनमें यह समझ पैदा कर सकेगी कि जब तक हिंदू-मुसलमान दोनों साथ नहीं आते और एक दूसरे की भावनाओं का आदर करना नहीं सीखते तब तक दोनों में से किसी को अंग्रेजों के राज के तहत इज्जत की जगह नहीं मिलेगी।' लेख की इबारत से साफ है कि भले ही उसकी शुरुआत लेखक ने अपनी भाषाई सांस्कृतिक पहचान पर हमले की आशंका से उपजी कडवाहट से की हो पर उसका अंत दोनों समुदायों के बीच परस्पर आदर और सहयोग भाव की कामना से हुआ है।

सर सैयद जिस व्यापक भाषा को उर्दू बता रहे थे दरअसल 'उर्दू' शब्द के प्रचलन

के पूर्व उसे हिंदी और हिन्दवी के नाम से जाना जाता था। अट्ठारहवीं सदी के उत्तरार्ध और उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्ध के दशकों में भारत की भाषाओं पर अद्भुत शोधपूर्ण काम करने वाले अंग्रेज विद्वानों- एच.टी. कोलब्रुक, जॉन बॉर्थविक गिलक्राइस्ट और जी.ए. ग्रियर्सन तथा आगे चल कर उसे और गति देने वाले भारतीय विद्वानों- डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या, डॉ. शहीदुल्ला, चंद्रधर शर्मा गुलेरी, डॉ. ताराचंद और राहुल सांकृत्यायन के गवेषणापूर्ण कामों से इसकी पर्याप्त पुष्टि होती है। अरबी-फारसी मिश्रित खड़ी बोली की कविता को 'रेख्ता' कहा जाता था। रेख्ता के साथ 'उर्दू' शब्द का प्रचलन यद्यपि सम्राट शाहजहां (1593-1666) के काल में ही हो चुका था, पर उसका अधिकाधिक प्रयोग अरबी-फारसी के शब्दों से समृद्ध खड़ी बोली गद्य के उत्तरोत्तर प्रचार प्रसार के साथ लगातार बढ़ता गया। 'रेख्ता' शब्द धीरे धीरे नेपथ्य में चला गया और उन्नीसवी सदी में 'उर्दू' शब्द गद्य और पद्य दोनों के लिए प्रयुक्त होने लगा। सर सैयद की हिन्दुस्तान व्यापी उर्दू तक की हिंदी की इतिहास यात्रा निहायत दिलचस्प है।

मिर्जा गालिब के देहावसान के बाद हिंदी उर्दू को एक ही कहने वालों की परम्परा का अंत हो गया। इसके बाद फारसी लिपि में उर्दू और नागरी में हिंदी दो अलग-अलग भाषाएं बन कर रह गयीं। दोनों के पैरोकारों के बीच कटुता की थोड़ी सी झलक मिल चुकी है।

उन्नीसवीं सदी के साठ के दशक के अंतिम वर्षों में सर सैय्यद ने जो आशंका बनारस (वर्तमान वाराणसी) के कमिश्नर अलेक्जेण्डर शेक्सपीयर के सामने भाषा को लेकर व्यक्त की थी प्रकारांतर से सौ साल बाद भारतीय महाद्वीप के एक अत्यंत

संवेदनशील हिस्से में सही साबित हुई। संस्कृति से गहराई से जुड़ी भाषा की इकहरी समझ के जोखिम इससे साफ उजागर हैं।

यहाँ मैं यह टिप्पणी करना चाहूँगा कि यदि सैयद अहमद ने केवल मुसलमानों की सामाजिक और आर्थिक उन्नति की चिन्ता न कर सारे भारत को अपनी चिन्ता का विषय बना लिया होता तो वे एक राष्ट्रीय नेता होते। पर दुर्भाग्यवश उनके मन में ऐसा विचार नहीं आया और वे एक वर्गविशेष के नेता बनकर रह गये साथ ही उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों के एक राष्ट्र की सम्भावना को समाप्त कर दिया।

2.2 राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' की भाषा-चिंतन

राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' 19वीं शताब्दी में शिक्षित शहरी भद्रवर्ग के प्रमुख व्यक्ति थे। सरकारी अधिकारियों में राजा शिवप्रसाद और सर सैयद अहमद खां ऐसे व्यक्ति थे जो हिन्दुस्तान की भाषा नीति को ठीक से समझते थे। मुस्लिम शासन के दौरान राजा शिवप्रसाद के पुरुखों पर अनेक जुल्म ढाए गए और फिर उनकी हत्याएं कर कर दी गईं थीं। इसलिए राजा साहब मुस्लिम विरोधी हो गए थे। उस समय अदालत और स्कूली शिक्षा को लेकर हिंदी और उर्दू भाषा का विवाद एक बड़ी समस्या बनी हुई थी। हिंदी समर्थक इस पूरे विवाद को भाषा की समस्या मान रहे थे। यह उन लोगों के लिए हिंदी बनाम उर्दू था जबकि राजा शिवप्रसाद इसे नागरी लिपि के रूप में देख रहे थे। वह हिंदी और उर्दू को अलग मानने के पक्षधर नहीं थे। राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' और हिंदी आन्दोलन पर रस्साकशी जैसे अमूल्य पुस्तक लिखने वाले हिंदी के प्रसिद्ध आलोचक वीरभारत तलवार लिखते हैं, "19वीं सदी में भाषा के सवाल पर

राजा शिवप्रसाद का यह स्पष्ट मत था कि हिंदी और उर्दू, दोनों दो अलग जुबानें नहीं हैं, ये मूलतः एक ही भाषा हैं। इसलिए प्रचलित बोलचाल की जुबान को हटाकर, भाषा के रूप में हिंदी या उर्दू को गढ़ने का सवाल नहीं है। भले ही उन्हें दो अलग-अलग लिपियों में लिखा जाए, लेकिन दोनों लिपियों में लिखी जाने वाली भाषा एक ही है और एक ही होनी चाहिए।

राजा शिवप्रसाद बोलचाल की इस जुबान को फारसी लिपि में लिखने के खिलाफ थे। अपने मेमोरेंडम में उन्होंने स्पष्ट लिखा कि मुस्लिम शासकों ने देशी भाषा को फारसी लिपि में लिखने का चलन अपनी सुविधा के लिए शुरू किया था, पर आम लोगों ने उसे कभी नहीं अपनाया, न वह लिपि उनके लिए सुविधाजनक थी। इसलिए सवाल अदालती भाषा की लिपि को बदलने का है, भाषा को नहीं। राजा शिवप्रसाद ने हंटर कमीशन के सामने गवाही देते हुए हिंदी के उन लेखकों को कोसा जो लिपि की जगह भाषा के सवाल को केंद्र में ला रहे थे। यानी भाषा का स्वरूप अलग-अलग न होकर, एक सामान्य स्वरूप होना चाहिए, लेकिन इस सामान्य भाषा के लिए लिपि फारसी नहीं, नागरी होनी चाहिए। क्या ऐतिहासिक दृष्टि से वे सही थे ? इसका अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि 1897 में मदनमोहन मालवीय के नेतृत्व में नागरी प्रचारिणी सभा के प्रतिनिधि मंडल ने लेफ्टीनेंट गवर्नर मैकडॉनल्ड को जो मेमोरियल दिया, उसमें भी अदालती भाषा को बदलने की मांग नहीं की गई, सिर्फ लिपि बदलने की मांग की गई थी। उसी आधार पर 1900 ई. में अदालती भाषा के

लिए फारसी लिपि के साथ नागरी लिपि के इस्तेमाल की भी इजाजत दी गई।"[8] उनके लिए अदालती भाषा की लिपि बदलने की मांग इसी राजनीतिक संघर्ष का हिस्सा थी। सत्ता के गलियारों में सर सैयद अहमद खां के वे सबसे बड़े प्रतिद्वंद्वी थे। सैयद अहमद पश्चिमोत्तर प्रांत के सार्वजनिक जीवन में सबसे प्रभावशाली व्यक्ति और मुस्लिमों के पक्षधर थे। राजा शिवप्रसाद हिन्दू हितों के और सर सैयद अहमद खां मुस्लिम हितों के समर्थक थे। यह दोनों ही अंग्रेजी सरकार के मुलाजिम थे इसलिए सरकार की नम्रतापूर्वक दबे स्वर में शिकायत करते थे और सरकार का नम्र रुख देखकर अपनी मांगों के लिए दबाव डालते थे। इन्होंने अंग्रेज सरकार के खिलाफ तीव्र आवाज नहीं उठाई। ये समय-समय पर सरकार की मदद ही करते रहें।

राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' बड़े विद्वान पुरुष थे। वह हिंदी, उर्दू, संस्कृत, फारसी और अंग्रेजी के अच्छे जानकार थे। उनकी लिखी किताबों की भूमिकाएं बहुत महत्वपूर्ण हैं क्योंकि उनमें उनकी सैद्धांतिक अवधारणाएं प्रकट हुई हैं। हिंदी-उर्दू में गद्य लिखने के अलावा उन्होंने वाहवी तखल्लुस से शायरी भी की थी। वे सिर्फ साहित्य के ही नहीं अपितु दर्शन, इतिहास एवं ज्ञान के अन्य अनुशासनों के भी विद्वान थे। उनकी विद्वत्ता की झलक इन विषयों से संबंधित उनकी बनाई किताबों में दिखाई देती हैं। जिसमें वह इतिहास और भूगोल की हिंदी किताबें लिखकर हिंदी के लिए रास्ता आसान कर रहे थे। हिंदी में ऐसा काम भारतेंदु ने भी नहीं किया। जो उस समय राजा साहब की सबसे ज्यादा आलोचना करते थे।

बाबू शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' की ऐतिहासिक यात्रा को देखें तो वह नागरी लिपि और बोलचाल की हिंदी के समर्थक के रूप में सामने आते हैं। सन् 1838 से ही

सैयद अहमद खां फारसी लिपि और उर्दू भाषा के पक्ष में अभियान छेड़े हुए थे। इसके कुछ समय बाद सन 1841 में शिवप्रसाद सितारेहिंद भरतपुर राज्य के वकील और 1848 में शिमला में और 1852 में वे बनारस में मीरमुंशी बनें। उन्होंने सैयद अहमद खान के उर्दू अभियान के जवाब में हिंदी का पक्ष लिया। वह हिन्दू हित के अग्रणीय लोगों में थें। उनकी विशेष रुचि शिक्षा के क्षेत्र में थी। उस समय हिंदी क्षेत्र शिक्षा की दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ था। 'हिन्दुस्तानी' या उर्दू के प्रति सरकारी पक्षपात से केवल देवनागरी और बोलचाल की हिंदी जानने वाले बहुसंख्यक दिनो-दिन और भी अशिक्षित होते जा रहे थे। इस माहौल में बाबू शिवप्रसाद जो सरकारी कर्मचारी थे, हिंदी के समर्थन में सामने आना एक ऐतिहासिक परिघटना थी। हिंदी और देवनागरी लिपि में शिक्षासम्बन्धी किताबें न के बराबर थीं। इसे देखते हुए उन्होंने भूगोल हस्तामलक नाम की किताब लिखीं जो 1851 में कलकत्ता संस्कृत प्रेस से प्रकाशित हुई। इसका दूसरा संस्करण 1859 में और लघु संस्करण 1888 में प्रकाशित हुआ।

इसके बाद बाबू शिवप्रसाद ने लिखा था, "...संकल्प था कि एक छोटी सी पुस्तक ऐसी रचें जिससे बालकों को यह सारा भूगोल हस्तामलक हो जाए; पर होते-होते विस्तार बहुत बढ़ गया...यदि शरीर वर्तमान है और ईश्वरेच्छा अनुकूल, तो दूसरा भाग भी शीघ्र बनकर छप जाएगा....यदि बालक भिन्न युवा और वृद्ध भी इस ग्रन्थ को पढ़ेंगे तो निश्चय ही उनका परिश्रम व्यर्थ न जाएगा; वरन् हमारे देश के बाबू और महाजनों को, जो हिंदी छोड़कर और कुछ भी नहीं जानते और न उनकी ऐसी अवस्था है कि पाठशाला में जाके अब अंग्रेजी और फारसी सीखें, यह ग्रंथ बड़ा ही उपकारी

होगा।"[9] इसकी भाषा के बारे में बाबू शिवप्रसाद ने लिखा: "कितने मित्रों की सम्मति थी कि यह पुस्तक छुट हिंदी बोली में लिखी जावे, फारसी का कुछ भी पूट न आने पावे, परन्तु हमसे जहाँ तक बन पड़ा बैताल पचीसी की चाल पर रखा और इसमें यह लाभ देखा कि फारसी शब्दों के जानने से लड़कों की बोलचाल सुधर जावेगी और उर्दू भी, जो अब इस देश की मुख्य भाषा है, सीखनी सुगम पड़ेगी।"[10]

अतः राजा शिवप्रसाद सरकार की शिक्षानीति को देखते हुए बहुत सावधानी से हिंदी शिक्षा के प्रसार की बात कर रहे थे। "यह मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि शिक्षाप्रसार के क्षेत्र में बाबू शिवप्रसाद का यह प्रयास बहुत महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि पुस्तकों के बिना शिक्षा नहीं दी जा सकती। फिर उन्होंने भूगोल हस्तामलक की रचना केवल पाठ्यपुस्तक के रूप में नहीं, बल्कि कम शिक्षित प्रौढ़ पाठकों को भी ध्यान में रखकर की थी।"[11]

1864 में शिवप्रसाद का ग्रन्थ 'इतिहास तिमिरनाशक', खंड-1,2 प्रकाशित हुआ। यह उन्हीं की अंग्रेजी पुस्तक का अनुवाद था। 1 जनवरी, 1864 को लिखित इसकी भूमिका में उन्होंने स्पष्ट किया था "जब मैंने देहाती स्कूलो के लिए हिंदी और उर्दू में हिंदोस्तान का एक छोटा सा इतिहास तैयार करने का वादा किया, तब मुझे इस काम की मुश्किलों का अंदाजा नहीं था। मैं यह तो जानता था कि देशी भाषाओं में अब तक लिखे गये तथाकथित इतिहास ग्रंथ कितने अधूरे और गलतियों से भरे हुए हैं, लेकिन मुझे इसका गुमान नहीं था कि एलेफिन्स्टन जैसा सजग लेखक भी ऐसी गलतियाँ कर

सकता है।"[12] भाषा के बारे में उन्होंने लिखा कि "यहाँ मैं उन लोगों के बारे में कुछ शब्द कहने के लिए क्षमा चाहता हूँ जो हिंदी किताबों से फारसी शब्दों को निकाल बाहर करने की हमेशा मांग करते हैं, यहाँ तक कि उन शब्दों को भी जो घर-घर में बोले जाते हैं और उनकी जगह प्रचलन से उठ चुके अनुपयुक्त संस्कृत शब्दों को या सिर्फ गंवारों के बीच समझी जाने वाली अनगढ़ अभिव्यक्तियों को ठूंसना चाहते हैं। दूसरे प्रांत वालों को हम लोगों से हमदर्दी होगी जब वे इस पर गौर करेंगे कि उनकी तरह हमें कचहरी और समाज में एक भाषा और एक ही लिपि का वरदान नहीं मिला है। हमारी अदालती भाषा उर्दू है और अदालती भाषा को सभी राष्ट्रों द्वारा अपने समय की सबसे प्रचलित और सुरुचिपूर्ण भाषा माना जाता है। उर्दू अब हमारी मातृभाषा होती जा रही है और पश्चिमोत्तर प्रांतों में कम या ज्यादा, अच्छी या बुरी, सबके द्वारा बोली जाती है। अगर हम अदालती लिपि को, जो बदकिस्मती से फारसी है, बदलकर सिर्फ देवनागरी नहीं कर पाते तो क्या यह जरूरी है कि हम खामखां एक नयी भाषा पैदा करने की कोशिश करें? मेरे ख्याल से अदालती भाषा से लोगों का परिचय बढ़ाने में मदद करना बेहतर होगा। जिले की कचहरियों में बुद्धू बनने और भद्रवर्ग के लोगों से बातें करते समय शर्माने के बजाये पचीसी की भाषा का अनुसरण किया है।।"[13]

इस उद्धरण से यह तो स्पष्ट है कि शिवप्रसाद का झुकाव उर्दू की ओर कुछ हो चला था, पर नागरी लिपि को फारसी लिपि से मुक्त करने का उनका निश्चय बना हुआ था। आचार्य शुक्ल ने भी इस ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। आचार्य शुक्ल का यह कहना है, "संवत 1917 के उपरांत जो इतिहास, भूगोल आदि की पुस्तकें राजा साहब ने

लिखीं उनकी भाषा बिल्कुल उर्दूपन लिए हुए है।"[14] इतिहासतिमिरनाशक की भाषा 'हिंदी' से इतनी दूर नहीं हुई थी कि उसे खामखां उर्दू मान लिया जाए। इतिहासतिमिरनाशक शीर्षक इस बात का द्योतक है कि उन्हें संस्कृत पदों से परहेज नहीं था। इतिहासतिमिरनाशक में प्रयुक्त भाषा का उदाहरण निम्नलिखित है- "शाहजहां उस अर्से में सख्त बीमार हो गया, उमेद बचने की न थी। दाराशिकोह ने बहुतेरा चाहा कि खबर न फैले, डाक बंद कर दी, मुसाफिरों को चलने से रोका, लेकिन यह न सोचा कि भला हिन्दुस्तान में भी कभी ऐसा हो सकता है कि भेद न खुलने पावे। शुजा बंगाले का सूबेदार और मुराद गुजरात का सूबेदार, दोनों अपनी अपनी फौजें लेकर दिल्ली को रवाना हुए। औरंगजेब दक्खन का सूबेदार था, मुराद को लिख भेजा कि तख्त आपको मुबारक हो, मैं मक्के जाने की बिल्कुल तैयारी कर चुका हूं लेकिन दीन का काम समझकर जब तक कि इस काफिर दारा के कुछ बन्दोबस्त न हो जावे मैं भी तुम्हारा मददगार हूं।"[15]

आचार्य शुक्ल ने इस भाषा में उर्दूपन देखा है। उन्होंने 1868 में प्रकाशित राजा शिव प्रसाद सितारेहिन्द के लेख भाषा का इतिहास से एक उद्धरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उस समय तक उनकी भाषा उर्दू की ओर बढ़ती जा रही थी। उद्धरण यों है- "हम लोगों को जहाँ तक बन पड़े चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिए। जो आमफहम और खासपसंद हों अर्थात् जिनको जियादा आदमी समझ सकते हैं और जो यहाँ के पढ़े लिखे, आलिमफाजिल, पंडित, विद्वान् की बोलचाल में छोड़े नहीं गये हैं और जहाँ तक बन पड़े हमलोगों को हर्गिज गैरमुल्क के शब्द काम में न लाने

चाहिए और न संस्कृत की टकसाल कायम करके नये नये ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिए; जब तक कि हमलोगों को उसके जारी करने की जरूरत न साबित हो जाये अर्थात् यह कि उस अर्थ का कोई शब्द हमारी जबान में नहीं है, या जो है, अच्छा नहीं है, या कविताई की जरूरत या इल्मी जरूरत या कोई और खास जरूरत साबित हो जाये।"[16] तदुपरांत समय के साथ राजा शिवप्रसाद की भाषा बाद के पढ़े-लिखे लोगों की भाषा बन गयी। जिस समय बाबू शिवप्रसाद ने भाषा का यह उदाहरण प्रस्तुत किया था, उस समय युक्त प्रान्त (जो पहले आगरा, कानपुर, इलाहाबाद और बनारस को मिलाकर पश्चिमोत्तर प्रांत कहलाता था, उसमें अवध प्रांत को मिलाकर यह नाम पड़ा था) और बिहार की छोटी अदालतों और कार्यालयों में फारसी लिपि में लिखित अरबी-फारसी प्रधान खड़ीबोली (जिसे उर्दू कहा जाने लगा था) का बोलबाला था। इस क्षेत्र के शिक्षाविभागों में ज्यादातर अफसर मुसलमान थे और वे सारे के सारे हिंदी के विरोधी थे।

राजा साहब द्वारा उस समय हिंदी के पक्ष में खड़े होना और नागरी लिपि के माध्यम से हिंदी का समर्थन करना बड़ी बात थी। हिंदी को शिक्षा का माध्यम बनाना और उसमें विषयों की पाठ्य-पुस्तकें तैयार करना उस युग की एक ऐसी ऐतिहासिक जरूरत थी जिसके बिना पश्चिमोत्तर प्रांत में शिक्षित हिंदीभाषी मध्यवर्ग का विकास नहीं हो सकता था। इस जरूरत को पूरा करने के बाद इसकी अगली लड़ाई भी राजा शिवप्रसाद ने ही लड़ी। राजकाज और अदालतों में शिक्षित हिंदीभाषी भद्रवर्ग को प्रतिष्ठित करने के लिए उन्होंने राजभाषा की उर्दू लिपि को हटाने और उसकी जगह

नागरी लिपि लागू करने के आंदोलन को जन्म दिया। अदालती भाषा की लिपि बदलने की मांग असल में प्रांतीय भद्रवर्ग के अंदर हिंदू-मुसलमानों के बीच शक्ति-समीकरण बदलने की गंभीर कोशिश थी। इससे प्रांत में हिंदू-मुस्लिम राजनीतिक संघर्ष की एक दिशा तय हो गई। आगे चलकर भारतेन्दु, नागरी प्रचारिणी सभा, मदनमोहन मालवीय और हिंदी साहित्य सम्मेलन ने जो हिंदी आंदोलन चलाया, उस आंदोलन की मूल विचारधारा के जनक राजा शिवप्रसाद थे। हिंदी आंदोलन की विचारधारा और उसके सभी बुनियादी तर्क शिवप्रसादजी के 1868 ई. के मेमोरेंडम में मिल जाते हैं। जो लोग भारतेंदु के समय से हिंदी को नए चाल में ढली हुई मानते हैं या उसका समर्थन करते हैं; उसका सम्यक मूल्यांकन प्रसिद्ध विद्वान् और शोधकर्मी वीरभारत तलवार करते हैं। उन्होंने पहली बार यह एक मौलिक स्थापना दी, "...1873 में भारतेन्दु से हिंदी नए चाल में ढली - यह हिंदी साहित्य के इतिहास का सबसे बड़ा झूठ है। जब भारतेन्दु का सिर्फ जन्म हुआ था, उस वक्त भी राजा शिवप्रसाद खूब निखरी हुई हिंदी लिख रहे थे जिसे उनके 'भूगोल हस्तामलक' में देखा जा सकता है। राजा शिवप्रसाद ने खड़ी बोली हिंदी के गद्य को उस जमाने में प्रतिष्ठित किया था जब शिक्षित भद्रवर्ग की नजरों में हिंदी एक गंवारू बोली समझी जाती थी और भद्रवर्गीय हिंदू भी अरबी-फारसी थूकने में ही अपनी शान समझते थे। यह शिवप्रसाद के गद्य का ऐतिहासिक महत्व था कि उन्होंने हिंदी गद्य लेखन को उर्दू के टक्कर का बनाया और शिक्षित समाज में प्रतिष्ठित किया।...राजा शिवप्रसाद जैसा साफ-सुथरा, प्रवाहपूर्ण, मुहावरेदार और सधा हुआ गद्य लिखने वाला पूरी 19वीं सदी में दूसरा कोई नहीं हुआ।"[17] उनके मुकाबले भारतेन्दु की भाषा में कई जगह अटपटापन दिखता है। भारतेन्दु आमतौर पर

ऐसी भाषा लिखते थे- “रविवार के दिन रूस के शाहनशाह जार राजकीय गाड़ी में बैठकर भजन मंदिर से अपने भवन में जाते थे कि इस बीच किसी दुष्ट ने कुलफीदार गोला उनकी गाड़ी के नीचे फेंका, परंतु वार खाली गया। तब दूसरा फेंका इस बेर गोला फूट गया और उसके भीतर की वारूद और गोलियों ने चारों ओर उड़कर गाड़ी को विध्वंस किया।”[18]

यह सच है कि भारतेंदु से कहीं ज्यादा साफ-सुथरा और जानदार गद्य बालकृष्ण भट्ट और प्रतापनारायण मिश्र ने लिखा है। बावजूद इसके इन सबकी भाषा में पूरवी शब्दों का प्रयोग इतना अधिक था जो संस्कृत के शब्दों के साथ सटीक नहीं बैठता था। इसने इनके गद्य को अटपटा बना दिया। यह बात राजा शिवप्रसाद के गद्य में नहीं थी। वह साफ-सुथरा गद्य लिखते थे। इनके सुन्दर गद्य का नमूना पदार्थ विज्ञान, इतिहास और भूगोल विषय की पाठ्य-पुस्तकों में देखा जा सकता है। इनके जैसा गद्य तत्कालीन समय के अन्य किसी लेखक की रचनाओं में नहीं मिलता। बाबू शिवप्रसाद पहले व्यक्ति थे जिन्होंने सरकारी कामकाज और अदालतों की भाषा के लिए प्रचलित फारसी लिपि के स्थान पर नागरी लिपि के प्रयोग के लिए आन्दोलन आरम्भ किया। 1868 में उन्होंने सरकार को एक मेमोरेंडम दिया जिसमें यह माँग की गयी थी। यद्यपि उनकी माँग स्वीकृत नहीं हुई पर उसके बाद वाले दशक में नागरी के पक्ष में जो आन्दोलन आगे बढ़ा उसने 1881 में बिहार में और 1900 में युक्त प्रान्त की अदालतों में नागरी लिपि को प्रतिष्ठित कर दिया। ईस्ट इंडिया कम्पनी की भाषा नीति हिंदी के अनुकूल नहीं थी। हिंदी बहुसंख्यक जनसामान्य की भाषा थी जबकि उर्दू सामन्त वर्ग, अभिजात समाज और नौकरी पेशा वर्ग की भाषा थी। कम्पनी सरकार को इस दूसरे वर्ग को अपनी

भाषानीति के द्वारा अपने अनुकूल बनाए रखना था। इसीलिए अपने शासनकाल के आरम्भ में कम्पनी सरकार ने फारसी को सरकारी भाषा के रूप में बनाए रखा। 1803ई. में प्रत्येक जिले के कलेक्टर तथा जज को आदेश दिया गया कि वे नये कानूनों को फारसी और नागरी दोनों लिपियों में विज्ञापित करें। 1836 ई. में सरकार ने 'इश्तहारनामे' निकाले कि सारे अदालती काम देश की प्रचलित भाषाओं में हुआ करें। वह इश्तहारनामा था-

"पच्छाँह के सदर बोर्ड के शाहबों ने यह ध्यान किया है कि कचहरी के सब काम फारसी जबान में लिखा पढ़ा होने से सब लोगों का बहुत हर्ज पड़ता है और बहुत कलप होता है, जब कोई अपनी अर्जी अपनी भाषा में लिखक सरकार में दाखिल करने पावे तो बड़ी बात होगी। सबको चैन आराम होगा। इसलिए हुक्म दिया गया कि 1244 की कुवार बंदी प्रथम से जिसका जो मामला सदर व बोर्ड सो अपना अपना सवाल अपनी हिंदी की बोली में और फारसी के नागरी अच्छरन में लिखे दाखिल करे कि डाक पर भेजे और सवाल जौन अच्छरन में लिखा हो तौने अच्छरन में और बोली में उस पर हुक्म लिखा जाएगा। मिति 29 जुलाई सन 1836 ई. ।"[19]

इस इश्तहारनामे में, जैसा शुक्ल जी ने भी बताया है, यह स्पष्ट कहा गया है कि बोली हिंदी ही हो, अक्षर नागरी के स्थान पर फारसी भी हो सकते हैं। शुक्ल जी के अनुसार, "खेद की बात है कि उचित व्यवस्था चलने न पायी। मुसलमानों की ओर से इस बात का घोर प्रयत्न हुआ कि दफ्तरों में हिंदी रहने न पाए, पर उर्दू चलायी जाए। 1837 के अदालती भाषा से सम्बद्ध अधिनियम के अनुसार हिंदी, हिंदी-क्षेत्र की अदालती भाषा स्वीकार की गयी पर मुस्लिम उच्च वर्ग तथा हिन्दू वकीलों और मुंशियों

के षड्यन्त्र और सरकार की उदासीनता के कारण ऊपरी प्रान्तों (अपर प्रॉविंसेज) की अदालतों में उर्दू का प्रवेश हो गया। धीरे धीरे अदालतों में हिंदी के स्थान पर अरबी-फारसी शब्दों, वाक्यांशों और मुहावरों से लदी उर्दू भाषा तथा फारसी लिपि का प्रचार हो गया।"[20]

इसके बाद भी फारसी शब्दावली और मुहावरों की प्रवृत्ति को रोकने के लिए सरकार की तरफ से आदेश निकलते रहते थे पर कर्मचारियों और अमलों की मिलीभगत से उनका कार्यान्वियन नहीं हो पाता था। यही कारण है कि 1837 ई. के बाद हिन्दुस्तानी का जो रूप विकसित हुआ वह हिंदी से दूर, फारसी के रंग में बिल्कुल रंगा हुआ और क्लिष्ट था। 1837 ई. के पूर्व हिन्दुस्तानी के लिए नागरी लिपि का प्रयोग भी होता था, पर उसके बाद फारसी लिपि में लिखित हिन्दुस्तानी का प्रचार अधिकाधिक होने लगा। देशभाषा के नाम पर लड़कों को उर्दू ही सिखायी जाने लगी। उर्दू पढ़े लिखे लोग ही शिक्षित कहलाने लगे। शुक्ल जी ने अपने मत के समर्थन में बाबू बालमुकुन्द गुप्त का यह विचार भी उद्धृत किया है, "जो लोग नागरी सीखते थे फारसी अक्षर सीखने पर विवश हुए और हिंदी भाषा हिंदी न रहकर उर्दू बन गयी। हिंदी उस भाषा का नाम रहा जो टूटी फूटी चाल पर देवनागरी अक्षरों में लिखी जाती थी।"[21]

इससे थोड़ा और आगे बढ़कर वे कहते हैं कि शुद्ध हिंदी चाहने वालों को हम यह यकीन दिला सकते हैं कि "जब तक कचहरी में फारसी का हरफ जारी है उस देश में संस्कृत शब्दों को जारी करने की कोशिश बेफायदी होगी।"[22] आचार्य शुक्ल जी ने राजा शिवप्रसाद की भाषा को आदर्श हिंदी नहीं माना है। वह राजा लक्ष्मण सिंह की भाषा को असली हिंदी स्वीकार करते हैं। राजा लक्ष्मण सिंह ने 1861 ई. में आगरा से

प्रजाहितैषी नामक पत्र निकाला जिसकी भाषा राजा शिवप्रसाद की भाषा से अलग थी। इसके वर्ष भर बाद ही 1963 ई. में, उन्होंने 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' का 'शकुन्तला नाटक' शीर्षक से अनुवाद प्रस्तुत किया, जिसे शुक्ल जी ने सरस और विशुद्ध हिंदी का नमूना बताया। इस भाषा का स्वरूप निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है-

"अनुसूया (हौले प्रियंवदा से) सखी! मैं भी इसी सोच विचार में हूँ। अब इससे कुछ पुछूंगी। (प्रगट) महात्मा ! तुम्हारे मधुर वचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहाँ पधारे हो? क्या कारण है? जिससे तुमने अपने कोमल गात को कठिन तपोवन में आकर पीड़ित किया है?"[23]

हम शुक्ल जी के असहमत होने के बाद भी राजा शिवप्रसाद की भाषा सम्बन्धी दृष्टिकोण को अपने समय की उपज मानते हैं। शुक्ल जी के समय में हिंदी का संस्कृतीकरण अपने चरम पर था; आज इतने वर्ष बाद हमारी भाषा सम्बन्धी दृष्टि बदल गयी है और हम राजा शिवप्रसाद की भाषादृष्टि के प्रति सहानुभूतिशील होने को बाध्य हैं। भाषा से स्पष्ट होता है कि उनकी भाषा प्रारंभ में किस प्रकार सरलता का आधार लेकर क्रमशः उर्दू की ओर झुकती चली गई। उनकी प्रारंभिक कृतियों में जहाँ पहले उनकी भाषा नीति जो सरल एवं सबके समझने योग्य वाली थी वही आगे चलकर 'आमफहम' और 'खासपसन्द' वाली हो गई।

भूगोल हस्तामलक, स्वयंबोध उर्दू, वामा-रंजन, विद्यांकुर और आलासियों का

कोड़ा आदि ग्रन्थों की भाषा प्रचलित हिंदी है। इनमें अरबी-फारसी के शब्दों का कम से कम प्रयोग है। परन्तु इतिहास तिमिरनाशक (तीन भागों में), सिक्खों का उदय और अस्त तथा हिन्दुस्तान के पुराने राजाओं का हाल में उनकी भाषा क्रमशः उर्दू से बोझिल होती चली गई। यह राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' की भाषिक यात्रा है। इन्होंने हिंदी में अरबी-फारसी के शब्दों को लेकर उसकी भंडारक्षमता का विस्तार किया। उन्होंने ऐसे शब्दों के नीचे नुक्ता लगाने का प्रचलन किया, जिसे हम परवर्ती और भारतेन्दु के भाषा में इस परम्परा का निर्वाह पाते हैं। उनकी प्रारंभिक कृतियां संस्कृतनिष्ठ भाषा में हैं। अतः उनमें पंडिताऊपन आ गया है।

परवर्ती रचनाओं की भाषा जो अरबी-फारसी से बोझिल है उसमें उर्दू के अधिकांशतः प्रचलित शब्दों को लिया गया है। अतः उन कृतियों की भाषा में जमाना, दर्बार, बदमिजाज, तकरीरे, दर्मियान, तर्फेन का दिल आदि शब्द बड़ी मात्रा में उपलब्ध होते हैं। इनमें विराम सम्बन्धी प्रयोगों को लेकर काफी अनियमितता है। विराम चिह्नों का प्रयोग मात्र 'वामामनरंजन' में ही मिलता है। विद्यांकुर उनकी प्रौढ़ रचनाओं में से है, किन्तु इसकी भी भाषा स्वच्छ नहीं हैं। डॉ० प्रेम प्रकाश गौतम ने ठीक ही लिखा है, "उनकी भाषा अधिकांश में सरल और व्यावहारिक है परन्तु उनमें अनेक दोष भी है। यथा- फारसी-अरबी शब्दों का यत्र-तत्र अनियमित प्रयोग, उर्दू शैली का शब्द क्रम, भाव प्रेषण में वक्रता, अस्पष्टता, विराम चिह्नों और अनुच्छेद विभाजन का अभाव और व्याकरणिक अशुद्धियाँ विद्यमान है।"[24]

मैं यहाँ वीरभारत तलवार से सहमत हूँ। उनका मानना है, “भारतेन्द ने भी राजा शिवप्रसाद को अंग्रेजों का चापलूस, उर्दू परस्त और हिंदी-हिंदू विरोधी बताकर साहित्यिक जगत में बदनाम कर दिया। भारतेन्दु मंडली राजा शिवप्रसाद का लगातार विरोध करती रही, उनके खिलाफ प्रचार चलाती रही, जिससे शिक्षा, साहित्य और समाज में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका और उपलब्धियों को ओझल कर दिया गया। उनके खिलाफ ... चलाए कुप्रचार को अलग कर दें तो आज उनकी तीन उपलब्धियों को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है; 1. पश्चिमोत्तर प्रांत की शिक्षा व्यवस्था में हिंदी माध्यम को बनाना और हिंदी में पाठ्य-पुस्तकें तैयार करना; 2. राजभाषा की लिपि बदलने की मांग उठाकर नागरी लिपि के आंदोलन को जन्म देना और 3. साफ-सुथरा प्रवाहपूर्ण गद्य लिखना।”[25]

इसमें कोई संदेह नहीं कि राजा शिवप्रसाद ने 19 वीं सदी में पश्चिमोत्तर प्रांत के भद्रवर्गीय समाज के अंदर शक्ति संतुलन का इतिहास बदलने की लड़ाई लड़ी थी। 1838 ई. में फारसी लिपि में लिखी जाने वाली उर्दू को प्रांत की राजभाषा बनाया गया जिसके बल पर सरकारी नौकरियों और अदालतों में भद्रवर्गीय मुसलमानों का कब्जा कायम रहा। 1854 में चार्ल्सवुड के मशहूर डिस्पैच के मुताबिक देशी भाषा में शिक्षा देने के लिए मदरसे खोलने का फैसला लागू हुआ, तो शिक्षा का माध्यम सिर्फ उर्दू को बनाने के आसार थे। उस समय हिंदी भाषा की कहीं कोई पूछ नहीं थी। वीरभारत तलवार के अनुसार, “मुस्लिमबहुल शिक्षा विभाग में अगर शिवप्रसाद ने हिंदी की आवाज न उठाई होती तो शिक्षा के क्षेत्र में हिंदी का कहीं अस्तित्व न दिखता।

शिवप्रसादजी की इस ऐतिहासिक भूमिका को उनकी भाषा नीति के कट्टर विरोधियों ने भी मान्यता दी।"26

राजा शिवप्रसाद की मृत्यु के बरसों बाद जाकर भारतेन्दु मंडली के 'प्रेमधन' ने स्वीकार किया कि राजा शिवप्रसाद की भाषा का जादू सिर पर चढ़कर बोलता था; कि उन्होंने विभिन्न शैलियों में हिंदी गद्य लिखा और हर शैली में वे बेजोड़ थे। कइयों ने राजा साहब को 'उर्दू-परस्त' कहते हुए बड़ी गैर-जिम्मेदारी से उनकी भाषा को 'नागरी अक्षरों में लिखी उर्दू' कहा है। यह आरोप शिवप्रसाद विरोधी प्रचार का हिस्सा था। वास्तव में राजा शिवप्रसाद की भाषा अपने समय की ज्यादा स्वाभाविक और सजीव भाषा थी बनिस्पत उस भाषा के जिसमें जानबूझकर प्रचलित उर्दू शब्दों को हटाकर संस्कृत शब्द रखे जाते थे। राजा शिवप्रसाद के गद्य की भाषा अधिकांश आसान, मुहावरेदार हिंदी है। सिर्फ भाषा का कुछ भाग ऐसा है जिसे कठिन अरबी-फारसी शब्दों से- बोझिल कहा जा सकता है।

हिंदी और उर्दू की लड़ाई में हिंदी को शिक्षा का माध्यम बना देना ही काफी नहीं था। उसमें पाठ्य-पुस्तकें कहां थीं? दिल्ली-हरियाणा में शादी-ब्याह पर गाए जाने वाले कुछ गीतों और किस्से-कहानियों के अलावा खड़ी बोली हिंदी में ऐसी किताबें कहां थीं कि उसको सैकड़ों स्कूलों में आधुनिक शिक्षा का माध्यम बनाया जाता ? इस बड़े काम का बीड़ा भी शिवप्रसादजी ने ही उठाया। पहली बार हिंदी में इतिहास, भूगोल और प्राकृतिक विज्ञानों जैसे आधुनिक विषयों की स्कूली पाठ्य-पुस्तकें तैयार करने का काम उन्होंने किया। यह काम अकेले आदमी का न था, सामूहिक प्रयास की

जरूरत थी। लिहाजा अपने नेतृत्व में उन्होंने कई लेखकों का एक दल तैयार किया जिसने सरल हिंदी में गणित तथा दूसरे विषयों की पाठ्य-पुस्तकें बनाने की जिम्मेदारी संभाली। राजा शिवप्रसाद के इस काम का मूल्यांकन अभी तक हिंदी में नहीं हुआ है। आज स्कूली पाठ्य-पुस्तकें कई बड़ी-बड़ी सरकारी, अर्ध-सरकारी और गैर-सरकारी संस्थाएं तैयार कर रही हैं, लेकिन इसको पहले-पहल करते हुए कैसी समस्याओं का सामना करना पड़ा था और उनका हल कैसे निकाला गया था ? हिंदी माध्यम से आधुनिक शिक्षा पाना आज आम बात हो चुकी है, लेकिन इसके पीछे राजा शिवप्रसाद जैसे लोगों का जो कठिन परिश्रम और संघर्ष था, उसे हम भूल चुके हैं। यह याद दिलाने की जरूरत है कि जिस पारिभाषिक शब्दावली की समस्या से हिंदी आज भी जूझ रही है, उसका सामना सबसे पहले राजा शिवप्रसाद को करना पड़ा था।

राजा शिवप्रसाद हिंदी के प्रवर्तक और उसके अंग थे। हिंदी नवजागरण में तीन मुख्य आंदोलन हुए अदालती भाषा की लिपि बदलने का, उर्दू के खिलाफ शुद्ध हिंदी का और गोरक्षा का इसमें से पहले आंदोलन की शुरुआत शिवप्रसाद ने की। उर्दू विरोधी आंदोलन का उन्होंने समर्थन नहीं किया। गोरक्षा के वे समर्थक थे। 1882 ई. के गोरक्षा आंदोलन के दौरान काशी नरेश ईश्वरी नारायण सिंह ने इंग्लैंड के सांसदों तक गोरक्षा की पुकार पहुंचाने के लिए अपने खर्चे से कुछ लोगों को इंग्लैंड भेजने का फैसला किया था। इन लोगों में सबसे मुख्य राजा शिवप्रसाद ही थे। वे देवनागरी लिपि के पक्षधर थे परन्तु प्रत्यक्ष रूप में फारसी लिपि का भी विरोध नहीं कर सकते थे, क्योंकि सरकारी

अधिकारी होने के कारण सरकार की भाषा संबंधी नीतियों से प्रभावित होना स्वाभाविक ही था। हिंदी भाषा की विरोधी शक्तियों से रक्षा हेतु उन्होंने प्रारंभ में सरल हिंदी में रचनाएँ की किन्तु अंग्रेजों की भाषा नीति में क्रमशः बदलाव आने से उनकी भाषा नीति भी बदलती हुई दिखाई देती है। उन्हें स्कूलों में पढ़ने वाले मुसलमान छात्रों का भी ध्यान रखना था।

शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' हिंदी और उर्दू, दोनों के लेखक थे उनकी किताबें दोनों में हैं। आसान हिंदी की तरह वे हमेशा आसान उर्दू के हिमायती रहे। वीरभारत तलवार के शब्दों में, "शिक्षा के क्षेत्र में राजा शिवप्रसाद ने एक ऐसी समस्या का हल ढूंढने की कोशिश की जो दरअसल एक सामाजिक समस्या थी। जब स्कूली पाठ्य-पुस्तकें बनाने का काम उन्होंने हाथ में लिया तो उनके सामने समस्या यह आई कि इन किताबों में भाषा का स्वरूप क्या हो ? स्कूल में हिंदू बच्चे पढ़ते थे और मुसलमान भी। एक ही विषय दोनों को अलग-अलग भाषा में लिखाया-पढ़ाया जाता था जबकि दोनों तरह के बच्चे एक ही प्रांत के, एक ही जिले के, एक ही गांव के निवासी होते थे और उनकी बोलचाल की जुबान एक होती थी। पश्चिमोत्तर प्रांत में एक जातीयता के विकास में यह समस्या बाधक थी। इस समस्या के हल के लिए उन्होंने स्कूल की किताबों में भाषा का ऐसा स्वरूप रखना तय किया जिसे हिंदू और मुसलमान, दोनों बच्चे समान रूप से पढ़-लिख सकें। उन किताबों की लिपि भले ही अलग-अलग रखनी पड़े, पर उनकी भाषा एक ही हो। इसे विडंबना ही कहिए कि जो लोग हिंदी जाति का स्वप्न देखते और सिद्धांत गढ़ते हैं, वे इस प्रसंग में राजा शिवप्रसाद के प्रयत्नों को सामने नहीं रखते।

इसके उल्टे वे भारतेन्दु मंडली के लेखकों की भाषा नीति को आदर्श समझते हैं जो वास्तव में हिंदी को हिंदू जाति और उर्दू को मुस्लिम जाति से संबंधित मानकर चलते थे और दोनों के लिए समान भाषा के सवाल पर कभी चिंता नहीं की।"[27] राजा साहब ने हिंदी व्याकरण की भूमिका में लिखा है, "यह बात काफी अजीब है कि हमारी देशी भाषा हमेशा दो ऐसी जुदा-जुदा लिपियों-फारसी और नागरी-में लिखी जाए जिनमें से एक दाहिने से बाएं और दूसरी बाएं से दाहिने को चलती है। लेकिन वह तो और भी विचित्र बात है कि उनके व्याकरण भी दो हों।"[28]

इस तरह राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद'यह मानते थे कि हिंदी और उर्दू बोलचाल की एक ही जुबान है। उनका व्याकरण भी एक होना चाहिए। वर्तमान समय में हिंदी और उर्दू को व्याकरण की दृष्टि से और बुनियादी तौर पर एक ही भाषा मानने वाले भाषाविद् और आलोचक कम नहीं हैं, पर उनमें से किसी ने एक व्याकरण लिखने का प्रयास किया ? राजा शिवप्रसाद के अथक प्रयास में अनेक कमियां होने के बाद भी ऐतिहासिक दृष्टि से उन्होंने बड़ा काम किया। उनके पास हिंदी भाषा को शिक्षा और राजकाज में स्थापित करने का एक विजन था। उन्होंने हिंदी व्याकरण और पाठ्यक्रम की पुस्तकें तैयार करके हिंदी और देवनागरी लिपि का रास्ता सरस बनाया। अतः हिंदी जगत उनके इस ऐतिहासिक भाषिक अवदान को नकार नहीं सकता।

2.3 राजा लक्ष्मण सिंह का भाषा-चिंतन

राजा लक्ष्मण सिंह, राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' के समकालीन थे। जहाँ शिवप्रसाद की भाषा और वाक्य विन्यासों में उर्दूपन अधिक था वहीं राजा लक्ष्मण सिंह

की भाषा विशुद्ध हिंदी, मथुरा और आगरा की बोलचाल का पुट लिये हुए थी, जो खड़ी बोली हिंदी के ज्यादा करीब थी। वह उर्दू के शब्दों से परहेज करते थे और संस्कृत शब्दों का प्रयोग ज्यादा करते थे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल इनकी भाषा को आदर्श मानते थकते नहीं हैं। यह एक ऐसा समय था जब हिंदी और उर्दू का विवाद जोरों पर रहा। शिवप्रसाद की हिंदी में अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग है, वह मानते थे कि जनता की हिंदी भाषा का कोई शुद्ध रूप निश्चित नहीं हो सकता। राजा लक्ष्मण सिंह ने सितारे हिन्द की भाषा नीति के विरोध में 'प्रजा हितैषी' पत्र आरम्भ किया। वह इसमें उर्दू शब्द के स्थान पर संस्कृतनिष्ठ हिंदी के प्रयोग को बढ़ावा देते थे। राजा लक्ष्मण सिंह बहुत अच्छे अनुवादक थे। उन्होंने संस्कृत की कई कालजयी रचनाओं के हिंदी और ब्रजभाषा में अनुवाद किए; जिनमें प्रमुख हैं- 'शकुन्तला' (1861 ई०) 'रघुवंश' (1878 ई०) और 'मेघदूत' (1882 ई०)। इन अनुवादों में उन्होंने संस्कृतनिष्ठ भाषा को आदर्श माना। 'रघुवंश' के अनुवाद में राजा लक्ष्मण सिंह अपनी भाषा- दृष्टि प्रकट करते हुए लिखते हैं- "हमारे मत में हिंदी और उर्दू दो बोली न्यारी-न्यारी है। हिंदी, इस देश के हिन्दू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और फारसी पढ़े हुए हिन्दुओं की बोलचाल है। हिंदी में संस्कृत के पद बहुत से आते हैं, उर्दू में अरबी-फारसी के, परन्तु कुछ आवश्यक नहीं है कि अरबी-फारसी के शब्दों के बिना हिंदी न बोली जाय और न हम उस भाषा को हिंदी कहते हैं जिसमें अरबी-फारसी के शब्द भरे हों।"[29]

उनकी शुरूआती रचनाओं के अनुवादों की भाषा में अरबी-फारसी और अंग्रेजी के जन प्रचलित शब्द प्रयुक्त मिलते हैं। ये प्रयोग उनकी आरंभिक कृतियों यथा 'लगान एक्ट नं. दस' और 'इंडियन पीनल कोड' के अनुवादों में प्रयुक्त हैं। किन्तु उसके बाद की

कृतियों की भाषा का रूप सर्वथा अलग है। भाषा का एक नमूना इस प्रकार है- "पहला प्यादा - (बन्धए को पीटता हुआ) अरे कुम्मिलक बतला यह अंगूठी जिसके हीरे पर राजा का नाम खुदा है तेरे हाथ कहां से आयी। कुम्मिलक- (कांपता हुआ) मुझे मत मारो। मेरा ऐसा अपराध नहीं है जैसा तुम समझते हो। पहला प्यादा क्या तू कोई श्रेष्ठ ब्राह्मण है कि सुपात्र जान राजा ने यह अंगूठी तुझे दक्षिणा में दी हो।"[30]

इनके अनुवादों की भाषा सरल और सजीव है। इनकी भाषा में अपराध, ब्राह्मण, श्रेष्ठ, सुपात्र, आदि तत्सम शब्दों का प्रयोग किया गया है। अन्य लेखकों की भांति उनमें भी द्वित्व की प्रकृति है, जैसे- 'मांस ही मांस पुकारते हैं', 'चलो बन को ले चलो', 'चिल्ला-चिल्लाकर कान फोखते हैं।' आदि ऐसे प्रयोगों से भाषा में सजीवता आ जाती है। इसके अलावा राजा लक्ष्मण सिंह की भाषा पर ब्रजभाषा का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखता है। उनके भाषा में भी 'इने', 'किन्नै', 'पहराये', 'बेर', 'भावती' जैसे ब्रज के शब्द प्रयुक्त हैं।

उन्होंने खड़ी बोली के रूप में संस्कृतनिष्ठ भाषा को अपनाया। उन्होंने सदैव प्रयास किया कि उर्दू के दलदल में फंसे बिना अच्छी हिंदी लिखी जाय। उनकी भाषा अरबी-फारसी से दूर रहने के बावजूद, जनता के अधिक निकट है। निस्संदेह उन्होंने भाषा के क्षेत्र में एक नयी दिशा दी।

राजा लक्ष्मण सिंह की भाषा-नीति को स्पष्ट करते हुए डॉ. शारदा वेदालंकार ने लिखा है, "भाषा के एक निश्चयात्मक स्वरूप का जितना सम्यक् प्रसार तथा जितना

पुष्ट और व्यवस्थित गद्य का रूप हमें इनकी रचनाओं में मिलता है उतना पहले किसी रचना में नहीं मिलता क्योंकि इस समय तक न तो भाषा का परिमार्जन हो पाया था और न कोई निश्चित शैली ही बन पाई थी।"[31]

राजा साहब की भाषा पर विचार करते डॉ० ओंकार राही ने लिखा है, "उनकी भाषा में प्रान्तीय उच्चारण के प्रभाव के कारण अठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण से सुने जाने वाले शब्द 'जित्रे', 'उस्से' जैसे प्रयोग है और साथ ही 'यह तो' 'तुझे', 'लिताने' इत्यादि स्थानीय शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। 'कहावत के लिए' 'कहनावत' और आवश्यक के लिए अवश्य इत्यादि प्रयोग हैं।"[32]

लक्ष्मण सिंह की भाषा लोक भाषा के भी निकट थी। वह जिस क्षेत्र के निवासी थे वह ब्रजमंडल था। इसलिए उनकी भाषा में लोकभाषा (ब्रज) का प्रभाव भी दिखाई देता है। उन्होंने अपनी भाषा को विदेशी भाषा के तत्वों से मुक्त रखकर हिंदी की सही पहचान करायी; जिसकी भूरि-भूरि प्रशंसा आचार्य शुक्ल ने की है। निश्चितरूप से एक ओर राजा लक्ष्मण सिंह ने हिंदी और उर्दू न्यारी-न्यारी वाले सिद्धांत से खड़ी बोली के विकास को नई दिशा तो दी पर दूसरी ओर एक ऐसी फांक पड़ गई जिसे आज तक नहीं पाटा जा सका। इस तरह विशुद्ध हिंदी और मधुर ब्रजभाषा के पुट को धारण कर लक्ष्मण सिंह का भाषा चिंतन सामने आया।

2.4 भारतेन्दु मंडल का भाषा-चिंतन

भारतेन्दु हरिश्चंद्र उन्नीसवीं सदी के प्रमुख हस्ताक्षर हैं। उन्नीसवीं सदी के मध्यकाल में जन्में इस युग पुरुष ने अपने समय के साहित्य को गंभीर रूप से प्रभावित किया।इनके लेखन का प्रभाव इतना अधिक था कि अनेक लेखक इनके अभिन्न मित्र बन

गए या फिर उनका अनुसरण करने लगे। इस दौर में अनेक लेखक रचनारत थे। जिनमें अधिकांश भारतेंदु मंडल में शामिल थे। इस मंडल का भाषा चिंतन इस युग के नाटक, निबंध, आलोचना, कविता, कहानी, उपन्यास, पत्रकारिता या अन्य विधाओं में स्पष्ट रूप से मिलता है। इस युग का भाषा और साहित्य संबंधी चिन्तन उन्नीसवीं सदी की समग्र भारतीय चेतना का संवाहक है। भारतेन्दु एक ऐसे व्यक्तित्व के धनी थे जिसमें भारत के गौरवमय अतीत के प्रति अटूट आस्था थी और वर्तमान का गहनबोध भी था। वह भाषा, साहित्य, संस्कृति, अध्यात्म और समाज के मंगल की कामना से युक्त थे। भाषा के सवाल पर वह जोर देकर 'निज भाषा' की वकालत करते थे।

भारतेन्दु हरिश्चंद की मान्यता है कि भाषा, राष्ट्रीयता और सांस्कृतिक अस्मिता की संवाहिका है। अतः वे 'जन-भाषा' या 'निज भाषा' के साथ जातीय पहचान की गहरी कड़ी की ओर इशारा करते हुए लिखते हैं-

'निज भाषा उन्नति अहे सब भाषा को मूल ।

बिन निज भाषा ज्ञान के मिटे न हिय को सूल।।'

भारतेन्दु की यह 'निज भाषा' सम-सामयिक जन सामान्य के व्यवहार की भाषा से अभिन्न है। दूसरे शब्दों में वह राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की उर्दूनुमा भाषा या आम फहम की भाषा और राजा लक्ष्मण सिंह की संस्कृतनिष्ठ भाषा के बीच में अवस्थित है। वस्तुतः राजा शिव प्रसाद सितारे हिन्द की भाषा मुसलमानों और कचहरियों से जुड़े लोगों की भाषा का प्रतिनिधित्व करती है जबकि राजा लक्ष्मण सिंह की भाषा उत्तर भारत के शिक्षित और संस्कृत भाषाभिज्ञ, एक छोटे से समुदाय की भाषा है। भाषा के ये दोनों रूप समाज के अस्सी प्रतिशत जनता से दूर हैं। भाषा के ये

दोनों रूप सामान्य जनता की भावाभिव्यक्ति के माध्यम नहीं थे। समाज में प्रचलित भाषा के इसी यथार्थ को पहचान कर एवं भारतेन्दु ने एक जागरुक साहित्यकार की भाँति भाषा के विषय में अपना मत स्थिर किया। शिष्ट जन और नगर परिप्रेक्ष्य में प्रचलित बहुजन भाषा को उन्होंने साहित्यिक अभिव्यक्ति का उचित माध्यम माना और उसे ही उन्होंने 'निज भाषा' की संज्ञा दी।

भाषा में शब्द-प्रयोग को लेकर ऐसी नीति निर्माण करने की आवश्यकता महसूस हो रही थी जिसमें देश में प्रचलित सभी भाषाओं के शब्द प्रयुक्त हों। ऐसे अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति में भारतेन्दु जी के समक्ष दो शैलियाँ थी एक अरबी-फारसी मिश्रित शब्दावली से युक्त, दूसरी तत्सम, तद्भव रूपों से युक्त । उन्होंने भाषा में शब्द प्रयोग को लेकर उत्पन्न विवाद का उल्लेख अपने निबन्ध 'हिंदी भाषा' में इस प्रकार किया है, "भाषा का तीसरा अंग लिखने की भाषा है और इसमें बड़ा झगड़ा है, कोई कहता है कि उर्दू शब्द मिलने चाहिए, कोई कहता है कि संस्कृत शब्द होने चाहिए और अपनी अपनी रूचि के अनुसार सब लिखते हैं और इसके हेतु कोई भाषा अभी नहीं हो सकती है।"[33]

भाषा में शब्द प्रयोग को लेकर उत्पन्न विवाद पर विचार व्यक्त करते हुए उसी निबंध में उन्होंने लिखा है -

"मुझसे कोई अनुमति पूछे तो नंबर 2 और नं. 3 लिखने योग्य है। नंबर 2 में संस्कृत के थोड़े शब्द हैं तथा नं. 3 में संस्कृत शब्दों का लगभग बहिष्कार है। इसमें तद्भव तथा प्रचलित शब्दों को स्थान दिया गया है। इसमें नं. 3 को ही शुद्ध हिंदी की संज्ञा दी है।"[34]

उनकी 'हरिश्चन्द्री हिंदी' में किसी प्रकार के शब्द प्रयोग को लेकर कोई आग्रह नहीं मिलता है। उन्होंने ऐसे गद्य का आदर्श रखा जिसमें सभी भाषाओं के प्रचलित शब्द प्रयुक्त हुए। उन्होंने भाषा में मध्यम मार्ग अपनाकर उसे कृत्रिम होने से बचा लिया उन्होंने प्रसंग, नाटकीय पात्र और परिस्थिति के अनुरूप शब्दों का प्रयोग किया। लोकभाषा को महत्व देते हुए उन्होंने अपनी रचनाओं में प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का भी प्रयोग किया। उनके निबन्धों की भाषा में जहाँ आनन्द, उत्साह, म्युनिस्पिलिटि, लंकिलाट जैसे यूरोपीय और अंग्रेजी भाषाओं के शब्द भी मिलते हैं। पात्रोचित शब्दप्रयोग करने में भारतेन्दु जी को बहुत बड़ी सफलता मिली है।

भारतेन्दु को अपनी भाषा नीति को परिभाषित या व्याख्यायित करने में अनेक अवरोधों और विरोधों का सामना करना पड़ा। उन्होंने जहाँ एक ओर 'निज भाषा' को अपनाने पर बल दिया दूसरी ओर विश्व की दूसरी भाषाओं के प्रति भी समुचित आदर भाव प्रदर्शित किया। इतना ही नहीं बल्कि अपने साहित्य में लोक-भाषा के शब्दों, मुहावरों और उसकी अभिव्यक्ति शैली को भी खुलकर अपनाया। इसीलिए भारतेन्दु के साहित्य में काशी अपने समग्र रूप में प्रतिबिम्बत है। उन्होंने भाषा प्रवाह में आने वाले सभी भाषाओं के शब्दों को औचित्य के अनुसार स्थान दिया। यही कारण है कि उनका साहित्य पढ़ते समय भाषा में किसी प्रकार की कृत्रिमता का आभास नहीं होता।

भारतेन्दु की यह सबसे बड़ी उपलब्धि रही है कि वह भाषा के सन्दर्भ में भारत की जातीय एवं साम्प्रदायिक विविधता से उत्पन्न भाषा-संस्कृति या भाषागत भिन्नता को स्वाभाविक मानकर सबके प्रति आदर भाव प्रकट करते हैं। किसी भाषा विशेष के प्रति भारतेन्दु के मन में न तो अतिशय दुराव था और न ही अतिशय लगाव। वे इन

दोनों वादों के मध्य हैं। यदि यह कहा जाये कि उनकी भाषा भी 'पंचमेल खिचड़ी' है तो इसमें कोई अनौचित्य नहीं है। क्योंकि भाषा का खिचड़ी रूप ही भाषा का स्वाभाविक रूप होता है। आगे चलकर जिस भाषा को महात्मा गाँधी ने हिन्दुस्तानी नाम दिया उस भाषा का निर्माण भारतेन्दु युग में ही हुआ था। फलतः उन्नीसवीं शती के अन्त तक व्यावहारिक भाषा की इन शैलियों ने अपनी अलग पहचान स्थापित की।

भारतेन्दु की भाषा में ये तीनों भाषा शैलियाँ परस्पर उलझी हुई दिखाई देती हैं। परन्तु भारतेन्दु के देहावसान के कुछ ही दिनों बाद इन तीनों में टकराव होना आरम्भ हुआ, और व्यावहारिक भाषा ने मजहबी भाषा का रूप ले लिया। इसकी परिणति हिंदी, 'हिन्दुस्तानी' और 'उर्दू' के रूप में हुई। जहाँ भारतेन्दु के जीवन-काल में खड़ी बोली भाषा बनने के लिए आन्दोलन के रूप में ग्रहण की गई थी वहीं उसने आगे चलकर स्वयं को तीन गलियारों में विभाजित कर लिया। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में खड़ी बोली के इन्हीं रूपों ने साहित्य सृजन के क्षेत्र में एक दूसरी से बड़ी कड़ी स्पर्धा की। कुछ साहित्यकारों ने संस्कृतनिष्ठ हिंदी को अपनाया, कुछ ने लोक व्यवहार में प्रचलित भाषा के सामान्य रूप को ग्रहण किया और कुछ ने फारसी लिपि में लिखित और अरबी-फारसी शब्द बहुल भाषा के व्यवहार का आरंभ किया। भारतेन्दु ने जिस भाषा को नई चाल में ढाला था और जिसमें उन्होंने नाटक, कथा-साहित्य, निबंध और पत्रकारिता से सम्बन्धित विधाओं की रचना की, जिसकी भाषा अनेक विविधताओं से युक्त है। यदि गहराई में जाये तो हम पायेंगे कि भारतेंदु की भाषा, साहित्य और व्यवहार की अभिव्यक्ति की भाषा बनने के लिए संघर्ष कर रही थी। वह अपना स्वरूप स्थिर नहीं कर पाई थी और साथ ही अपने स्वरूप की स्थिरता के लिए आगे बढ़ रही थी। भारतेन्दु ने घोषित कर दिया कि भाषा 'नई चाल में ढली' लेकिन भारतेन्दु युग में

भाषा निर्माणाधीन ही रही परन्तु वह बीसवीं शती के आरम्भ में स्थिर रूप पा सकी।

भारतेन्दु की यह निश्चित मान्यता थी कि भाषा सर्वजन सुलभ होनी चाहिए। इस तरह वे भाषा को जनभाषा से पूरी तरह जोड़ना चाहते थे। इसके साथ ही साहित्य में प्रयुक्त होने वाली भाषा के क्षेत्रीय रूप से भी उन्हें परहेज न था। यह बात उनके कथन से स्पष्ट है -

"इस हेतु ऐसे गीत बहुत छोटे-छोटे छंदों में और साधारण भाषा में बनें वरंच गंवारी भाषा में और स्त्रियों की भाषा में विशेष हो- और सब देश की भाषाओं में इसी अनुरूप हो अर्थात् पंजाब में पंजाबी, बुन्देलखण्ड में बुन्देलखण्डी, बिहार में बिहारी, ऐसे जिन के में जिन भाषा का साधारण प्रचार हो उसी भाषा में ये गीत बनें।"[35]

अतः यह कहा जा सकता है कि प्रारंभ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र लोक भाषाओं को राष्ट्रीय चेतना का संवाहक मानकर और उनमें साहित्य रचना कर उन्हें समर्थ बनाने के पक्ष में थे। उन्हें लोक भाषाओं और स्त्रियों की बोलचाल में भी सार्वदेशिक महत्व के साहित्य-सर्जन की संभावना दिखाई देती थी। संभवतः इस मान्यता के मूल में उनका भाव यह है कि जातीय अस्मिता की पहचान के लिए जन भाषाओं का भी उपयोग होना चाहिए। बोलचाल की भाषा को साहित्यिक अभिव्यक्ति का आधार बनाने के कारण ही युग का साहित्य जन समाज में ग्राह्य हो सका। उसमें जो व्यंग्य, परिहास, जीवन्तता, चुटकुलेबाजी और आकर्षण है वह उनके परवर्ती साहित्य में दुर्लभ है। भारतेन्दु आवश्यकतानुसार समाज में प्रचलित हर भाषा के शब्द को पचा लेने में लगे हुए थे। कहीं वे उन शब्दों का ध्वन्यात्मक रूपान्तरण करते थे और कहीं ज्यों का त्यों ले लेते थे। गद्य को कविता के निकट ले जाने का उनका प्रयास समाज के प्रति आकर्षण के

कारण था। उनकी गद्य-भाषा काव्यमयी होती थी। पद्य की भाषा के रूप में खड़ी बोली उस समय अपनी पहचान बनाने के लिए संघर्षरत थी। इतना अवश्य है कि वह पद्य की भाषा में 'पड़ी' होने पर भी गद्य में 'खड़ी' हो जाता था। इस पृष्ठभूमि में यदि भारतेन्दु की भाषा- नीति को परखा जाये तो स्पष्ट होता है कि वे तत्सम की तुलना में तद्भव के प्रयोग पर विशेष बल दे रहे हैं। साथ ही, वे जनपदीय बोलियों के साथ खड़ी बोलियों के तालमेल बैठाने के लिए प्रयत्नशील हैं। भारतेन्दु को संस्कृत या उर्दू का विरोधी मानना भारी भूल है। वे इन दोनों के विरोधी तो नहीं ही थे बल्कि साहित्य-भाषा में इनके उचित ग्रहण के पक्षधर थे। इतना अवश्य है कि हिंदी को संस्कृत या उर्दू नहीं बनाना चाहते थे। उनका किसी भाषा-विशेष से स्थिर विरोध नहीं था परन्तु साथ ही खड़ी बोली हिंदी को उसका उचित स्थान दिलाने के लिए उपयुक्त जमीन तैयार करने की आवश्यकता को वे महसूस करते थे। इस भाषा की जमीन तभी बन सकती थी जब संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी और क्षेत्रीय बोलियों को एक सीमा तक पीछे हटा दिया जाये।

भारतेंदु को हिंदी का फारसीकरण बिल्कुल पंसद नहीं था। इतना ही नहीं बल्कि उर्दू को भी इस देश की जमीन से अधिकाधिक जुड़े रहना उचित मानते थे। उनकी मान्यता थी कि उर्दू भी इसी देश की भाषा है। अतः उसे अरबी या फारसी से अधिकाधिक जोड़ना राष्ट्रीयता का द्योतक नहीं है। उसे भारतीय परिप्रेक्ष्य में जोड़कर देखा जाना चाहिए।स्वयं भारतेन्दु जी ने अपने कुछ लेखों और नाटकों में शुद्ध उर्दू भाषा का प्रयोग किया है लेकिन ऐसा उन्होंने तभी किया है जब उन्हें देश, काल और पात्र के अनुसार उर्दू का आश्रय ग्रहण करना अनिवार्य लगा है।

भारतेन्दु का देश-प्रेम और भाषा-प्रेम एक व्यापक क्षेत्र में फैला हुआ था। वे ज्ञान-विज्ञान के समस्त भण्डार को 'निज भाषा' में लाने के लिए प्रयत्नशील थे। अपने

लेखों और अन्य प्रकार के प्रयत्नों द्वारा अपने समसामयिक अन्यान्य विषयों के जानकारों को वे सदैव प्रेरित करते थे। उनका भाव निम्न पंक्तियों से ध्वनित होता है- 'विविध कला शिक्षा अमित ज्ञान अनेक प्रकार/ सब देशन से करहु भाषा मांहि प्रचार'।

भारतेन्दु मंडल के अधिकांश गद्य-लेखकों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से भाषा-विषयक गम्भीर चिन्तन प्रस्तुत किया है। यह भाषा चिन्तन मात्र हिंदी के विवाद से उत्पन्न स्थिति के समाधन हेतु नहीं अपितु राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान का एक माध्यम था। यही कारण है कि इस युग में जहाँ एक ओर हिंदी गद्य के स्थिरीकरण की प्रक्रिया चलती हुई दिखाई देती है वहीं दूसरी ओर व्यापक शब्द चयन द्वारा उसे साहित्योपयोगी और व्यवहारोपयोगी बनाने की प्रक्रिया भी प्रारम्भ हुई दिखती है।

इस समय में हिंदी भाषा और उनके साहित्य का तीव्रता के साथ विकास हुआ। यह युग ही राष्ट्रीय नवजागरण के नवोन्मेष का काल था। इस अवधि में साहित्य की विविध विधाओं की जितनी सर्जना हुई उतनी पहले कभी नहीं हुई। कुल मिलाकर इस प्रभावशाली प्रस्तुति के पीछे इस युग के लेखकों की भाषा-सम्बन्धी चिन्तन का बहुस्पर्शी होना था। विपरीत परिस्थितियाँ अर्थात् हिंदी-उर्दू भाषायी संघर्ष और अंग्रेजों की भाषा संबंधी नीति के विरुद्ध संघर्ष और स्वदेशी के प्रयोग के प्रति व्यापक आह्वान की स्थिति में भी स्वभाषा को खड़ा करने का प्रयत्न चलता रहा। परिणाम यह हुआ कि हिंदी गद्य को गहन चिन्तन-मनन के योग्य बनाने में इस युग के लेखकों ने सफलता प्राप्त की।

इस युग के अधिकांश लेखक अपनी भाषा में आवश्यक सुधार के प्रति सचेष्ट दिखाई देते हैं। साथ ही उसके अधिकाधिक प्रचार और प्रसार के प्रति भी सचेष्ट है।

इसके लिए श्री तोताराम ने अलीगढ़ में 'भाषा संवर्द्धिनी सभा' और श्री राधाचरण दास ने प्रयाग में 'हिंदी उद्धारिणी प्रतिनिधि सभा' जैसी संस्थाओं की स्थापना की। इस युग में कुछ ऐसे गद्यकार हुए जिन्होंने संस्कृत शब्दावली के बहुल प्रयोग से अपनी भाषा को अनुपयुक्त बना दिया। उदाहरण रूप में जैनेन्द्र किशोर ने अपने 'कमलिनी' नामक उपन्यास में नाक बह रही हैं के लिए लिखा- 'नासिकारन्ध्र स्फीत' हो रहा है। ऐसी भाषा के समर्थक रचनाकारों का भी एक वर्ग था जिनकी भाषा साधारण जनता के लिए बड़ी प्रमुख थी।

बद्री नारायण चौधरी 'प्रेमघन' ने भले ही अपनी भाषा नीति में सहज, सुबोध और सुग्राह्य भाषा नीति का समर्थन किया है किन्तु यथार्थतः उनके अधिकांश साहित्य की भाषा में चमत्कार और पांडित्य प्रदर्शन की प्रवत्ति दृष्टिगोचर होती है। भाषा में अलंकारिता लाने के लिए उनके द्वारा शब्दों के चयन और वाक्य संरचना में चमत्कार उत्पन्न करने का प्रयास प्रतीत होता है। उनकी भाषा में प्रभावमयता, प्राणवत्ता और श्लेषात्मकता के गुण विद्यमान हैं। ऐसी भाषा में यत्र-तत्र अस्वाभाविकता का आ जाना स्वाभाविक है। समय-समय पर उनकी पत्रकारिता और व्याख्यानों से उनकी भाषा नीति पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है, "देश भाषा के संग देश ही के विशुद्धाक्षर का प्रचार देना न्यायानुमोदित है और इसी रीति से कार्य की सुगमता और शुद्धता तथा प्रजा की प्रसन्नता एवं बिना कठिनता से उसके कार्य निर्वाह की सरलता संभावित हो सकती है।"[36]

तृतीय हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापति के रूप में बोलते हुए उन्होंने कहा कि हिंदी विरोधी लोग यहाँ तक कहते थे कि हिंदी कल्पित भाषा है और वह इस देश

की भाषा नहीं बल्कि हिंदी हरफों में लिखी उर्दू जबान ही है। प्रेमघन जी ने उक्त व्याख्यान में इसका कड़ा प्रतिवाद करते हुए इसे देश की भाषा सिद्ध करते हुए उर्दू को इसका एक भेदमात्र बतलाया।

बालकृष्ण भट्ट और ठाकुर जगमोहन सिंह की भाषा में तत्सम संस्कृत शब्दों की बहुलता से यत्र-तत्र भाषा प्रवाह में रुकावट आ गई है। भाषा नीति के संदर्भ में बालकृष्ण भट्ट, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को अपना साहित्यिक नेता मानते थे। वे मुख्यतः 'हरिश्चन्द्री शैली' के अनुयायी थे। फिर भी उनका प्रचलित उर्दू-फारसी के शब्दों से बिल्कुल परहेज नहीं था। उन्होंने स्वयं उर्दू सहित तत्कालीन समय में प्रचलित सभी शैलियों में गद्य लिखा। उनकी उदार भाषा नीति की पुष्टि उनके इन कथनों से होती है -

"यह कौन कहता है कि उर्दू दूसरी वस्तु है। सच पूछो तो उर्दू भी इसी हिंदी का एक रूपान्तर है।..."यह अवश्य है कि यवन सम्पर्क से बहुत से अरबी-फारसी के शब्द हमारी भाषा के साथ ऐसे सम्मिलित हो गए हैं कि घरेलू बातचीत में भी उनका प्रयोग किया जाता है।"[37]

इससे यह स्पष्ट होता है कि भट्ट जी हिंदी और उर्दू को एक मानते थे। विभिन्न भाषाओं के विद्वान् होने के कारण उन्होंने उन भाषाओं के शब्द-समूह को ग्रहण कर हिंदी गद्य की काफी सेवा की।

भारतेन्दु के परम सहयोगी और साहित्य-सेवी पं. प्रताप नारायण मिश्र ने 'ब्राह्मण' नामक पत्र के माध्यम से हिंदी गद्य के स्वरूप को निखारने में काफी योग दिया। उनके निबन्धों की भाषा देखने से यही ध्वनित होता है कि उनका हिंदी गद्य की भाषा के सम्बन्ध में वही विचार है जो भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का था। वे हिंदी गद्य के

निर्माण में भाषा के तत्सम और तद्भव मिश्रित शब्द भंडार का प्रयोग करते हुए दिखाई देते हैं। साथ ही वे उन्हीं विदेशी शब्दों को ग्रहण करने के पक्ष में थे जो कि सामान्यतः जनसाधारण के बीच प्रचलित थे। इसीलिए उनके निबन्धों की भाषा में अंग्रेजी, अरबी, फारसी के शब्दों का प्रयोग आवश्यकतानुसार मिलता है। उनमें बोलचाल के शब्दों के अधिकाधिक प्रयोग के प्रति आग्रह वर्तमान था।

तत्कालीन गद्य लेखकों की रचनाओं की भाषा को देखते हुए यह कह सकते हैं कि अधिकांश गद्यकारों के भाषा प्रयोग में उनकी व्यक्तिगत छाप है। जहाँ एक ओर पं. श्रद्धानन्द फुल्लौरी की 'भाग्यवती' में पंजाबी हिंदी मिश्रित भाषा प्रयुक्त है वहीं लाला श्रीनिवासदास और पं. अम्बिका प्रसाद व्यास जैसे गद्य लेखकों की भाषा में बोलचाल के शब्द रूपों का प्रयोग अर्थात् स्थानीयता का प्रभाव अधिक है। पं. अम्बिका प्रसाद व्यास की भाषा में पण्डिताऊपन होने के कारण वह अपने समय की भाषा से पिछड़ी हुई लगती है। संक्रान्तिकाल और द्विवेदी युग के सन्धि-द्वार पर खड़े श्री बालमुकुन्द गुप्त की भाषा विषयक नीति का दूरगामी प्रभाव यह हुआ कि हिंदी भाषा को प्रौढ़ और परिमार्जित करने की नई प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई।

महावीर प्रसाद द्विवेदी मानते हैं कि यह बहुत जरूरी है कि लिखित भाषा, कथित भाषा की अपेक्षा अधिक समय तक अस्थायी रहे। चिरकाल तक उसके स्थायी करने का एकमात्र साधन व्याकरण है। वहीं दूसरी ओर बालमुकुन्द गुप्त जी का मत था, "लिखने की भाषा भी वही अच्छी समझी जाती है जो बोलचाल की भाषा हो, मनगढ़न्त न हो। उसी को बा-मुहावरा भाषा कहते हैं। मुहावरे का अर्थ बोलचाल है...जो लेखक रोजमर्रा की भाषा नहीं लिख सकते वह कितनी ही व्याकरणदानी से

काम लें, उनकी भाषा उन्हीं तक रह जाती है क्योंकि व्याकरण में शक्ति नहीं है जो भाषा के जोड़-तोड़ की इस प्रकार की भूलों को बना सके।"[38]

इससे यह स्पष्ट होता है कि द्विवेदी जी व्याकरण को तथा गुप्त जी शिष्ट भाषा प्रवाह को अधिक महत्वपूर्ण मानते थे। गुप्त जी की भाषा नीति का मुख्य प्रयोजन उन्हीं के शब्दों में, "हिंदी में संस्कृत के सरल-सरल शब्द अवश्य होने चाहिए, इससे हमारी भाषा संस्कृत का उपकार होगा और गुजराती, बंगाली, मराठी आदि भी हमारी भाषा को मूल समझने के योग्य होंगे। किसी देश की भाषा उस समय तक काम की नहीं होती, जब तक उसमें देश की मूल भाषा के शब्द बहुतायत के साथ शामिल नहीं होते।"[39]

इस प्रकार गुप्त जी की भाषा नीति में व्यवहार में प्रचलित भाषा के अधिकाधिक प्रयोग का आग्रह दिखता है। वे जनभाषा के प्रगतिशील तत्वों के समावेश पर बल देते थे।

भारतेंदु युग की पत्र-पत्रिकाओं में भाषा-विषयक नीति से संबंधित टिप्पणियाँ भी प्रकाशित होती रहती थी क्योंकि उस समय साहित्य-सृजन के साथ भाषा की समस्या भी जटिल थी। इस भाषा-आन्दोलन में पत्रकारों ने खुलकर भाग लिया। इतना ही नहीं, उनकी पत्रिकाओं के मुखपृष्ठ पर भाषा-विषयक विचार भी लिखे होते थे। कवि वचन सुधा, ब्राहमण, हिंदी प्रदीप आदि पत्रिकाओं के मुख पृष्ठ पर भाषा-विषयक विचार प्रेषित होते थे।

भारतेंदु मंडल के गद्य-लेखकों की विभिन्न विधाओं में प्रयुक्त भाषा-विषयक-नीति से यह स्पष्ट होता है कि इनकी सर्जना के पीछे इनका एक भाषा विषयक दृष्टिकोण भी रहता था जो समकालीन भाषा आन्दोलन से प्रभावित हुए बिना नहीं रह

सकता। इन गद्य लेखको की दृष्टि में राष्ट्रीय चेतना को प्रवाहित करते रहने के लिए 'निज भाषा' का होना नितांत जरूरी था। इन लेखकों के पास हिंदी भाषा का प्रचार-प्रसार करने का काफी अवकाश था। पाश्चात्य संस्कृति के सम्पर्क से ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में काफी विकास हो चुका था। हिंदी-उर्दू के विवाद तथा सरकार की अंग्रेजी समर्थक नीतियों के कारण उस समय राजा लक्ष्मण सिंह ने तत्सम शब्दावली युक्त हिंदी का प्रयोग प्रारम्भ किया। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' (1861) 'रघुवंश' (1878) और 'मेघदूत' के अपने भाषानुवाद में उन्होंने तत्सम बहुल शब्दावली-युक्त खड़ी बोली का प्रयोग किया। इसके द्वारा उन्होंने यह सिद्ध किया कि उर्दू के दल-दल में फंसे बिना ही संस्कृत के तत्सम शब्दों की सहायता से अच्छी हिंदी लिखी जा सकती है। इसे आचार्य शुक्ल ने आदर्श हिंदी माना है।

इन गद्यकारों के भाषा-संबंधी नीति के द्वन्द्व में जकड़ी हिंदी कभी अरबी-फारसी की ओर और कभी संस्कृतनिष्ठ शब्दावली की ओर झुकी जा रही थी। उस काल में भाषा संबंधी प्रयोग को लेकर असमंजस की स्थिति भी बनी रही।

2.5 आर्य समाज की भाषा-नीति

हिंदी भाषा के प्रति सम्मान न केवल हिंदी भाषियों ने अपितु अहिंदी भाषियों ने भी दिखाया है। यह हिंदी के लिए कितने गौरव की बात रही होगी जब अहिंदी-भाषी बंगाल के केशवचन्द्र सेन के सुझाव पर एक गुजराती संत दयानन्द सरस्वती ने हिंदी को गले लगाया होगा। स्वामी दयानंद सरस्वती आर्य समाज के सिद्धांतों को देश-दुनिया में फैलाने वाले प्रसिद्ध विचारक थे। उनके हिंदी के प्रति लगाव और उसे आर्य भाषाओं की बेटी के रूप में स्थापित करने के प्रयास ने सभी के सामने उदाहरण प्रस्तुत

किया।

स्वामी दयानन्द का हिंदी की ओर झुकाव हुआ। “सन् 1873 से पूर्व हिंदी भाषा की ओर उनका ध्यान नहीं गया था लेकिन जब ब्रह्मानन्द केशवचन्द्र सेन ने उनसे लोक प्रचलित भाषा में प्रचार करने का आग्रह किया तो वे बहुत शीघ्र इसकी शक्ति और सामर्थ्य को पहचान गये। उनकी मातृभाषा गुजराती थी लेकिन उन्होंने हिंदी को ऐसे अपना लिया और एक दृष्टि से नौ वर्ष के अल्पकाल में (सन् 1873-1883) वह काम कर गये जो बड़े-से-बड़ा हिंदी-भाषी भी नहीं कर सका। उसके बाद उन्होंने अपने सभी व्याख्यान हिंदी में दिये, सभी ग्रन्थ हिंदी में लिखे और शास्त्रार्थ तक हिंदी में करने लगे। पत्र-व्यवहार की भाषा भी हिंदी हो गयी। उनके सभी विज्ञापन हिंदी में प्रकाशित होते थे। उनके आदेश पर कई आर्य समाजों ने हिंदी में पत्र-पत्रिकाएं निकालीं, पाठशालाएँ खोलीं। उन्होंने आर्य समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए हिंदी पढ़ना-पढ़ाना अनिवार्य कर दिया।”[40]

स्वामी दयानन्द ने अधूरे मन से कभी कोई कार्य नहीं किया। उन्होंने जब हिंदी को अपनाया तो वह लिफाफों के पते भी देवनागरी में लिखवाने लगे। 6 अक्तूबर, 1878 को दिल्ली से श्यामजीकृष्ण वर्मा को उन्होंने लिखा था, “अब की बार भी वेद भाष्य के लिफाफे के ऊपर देवनागरी नहीं लिखी गई।...इसलिये तुम बाबू हरिशचन्द्र चिन्तामणि जी से कहो कि अभी इसी पत्र को देखते ही देवनागरी जानने वाला मुन्शी रख लेवें कि जो काम ठीक ठाक हो, नहीं तो वेद भाष्य के लिफाफों पर किसी से रजिस्टर के अनुसार ग्राहकों का पता किसी देवनागरी वाले से नागरी में लिखा कर टिपस लिया करें।”[41]

उनका मानना था कि अगर पता हिंदी में लिखा होगा तो डाकघरों में उसे पढ़ने वाले भी रखने पड़ेंगे। अतः दयानन्द सरस्वती जी दूरदृष्टि से आगे बढ़ रहे थे। वह इस लोकभाषा को राजभाषा के रूप में देखना चाहते थे।

डॉ. रामप्रकाश आर्यसमाज की हिंदी के प्रचार और प्रसार में भूमिका को दर्शाते हुए लिखते हैं, "आर्यसमाज के माध्यम से हिंदी को मुन्शी प्रेमचन्द जैसे कालजयी साहित्यकार मिले और जन साधारण को उनकी भाषा में शास्त्र । अब वैदिक शास्त्र किसी वर्ग विशेष की बपौती न रहे। जो पुस्तकें पहले लाल कपड़े में लिपटी रहती थीं और जिन्हें केवल नमन किया जाता था, वे पढ़ी जाने लगीं। उनमें प्रतिपादित विषय पारस्परिक चर्चा के बिन्दु बनने लगे। मठाधीशों को लोगों के बीच में बने रहने के लिए उनके अर्थों को बदलने की आवश्यकता अनुभव होने लगी। स्व-ग्रन्थों को अब जनता से दूर रख पाना उनके लिए सम्भव न रहा। जैनी भी अपनी पुस्तकें उपलब्ध करवाने लगे। सभी को अपनी चौखट पर सत्यार्थप्रकाश की पद-चाप सुनाई दे रही थी।"[42]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने माना है कि उन्नीसवीं शताब्दी में उत्तरी भारत के जन-समुदाय में हिंदी और उर्दू दो बड़ी भाषाओं का स्वतन्त्र विकास हो रहा था। उन्होंने लिखा है, "जिस प्रकार उसके उर्दू कहलाने वाले कृत्रिम रूप का व्यवहार मौलवी मुंशी आदि फ़ारसी तालीम पाये हुए कुछ लोग करते थे उसी प्रकार उसके असली स्वाभाविक रूप का व्यवहार हिन्दू साधु, पण्डित, महाजन आदि अपने शिष्ट भाषण में करते थे। जो संस्कृत पढ़े-लिखे या विद्वान होते थे उनकी वाणी में संस्कृत के शब्द भी मिले रहते थे।"[43]

स्वामी दयानन्द सरस्वती इस बात को अच्छी तरह समझ गये थे कि हिंदी ही

देश को एकता के सूत्र में पिरो सकती है। उनके लिए देश सर्वोपरि था। उनकी अनेक बातों से मतभेद हो सकते हैं पर उनकी देशभक्ति पर सन्देह नहीं किया जा सकता। उन्होंने इसे जन-जागरण के लिए ऐसे ही अपनाया था जैसे प्राचीन काल में तथागत बुद्ध और भगवान महावीर ने उस समय की लोक प्रचलित भाषा पाली और प्राकृत को अपनाया था। स्वामी जी के कार्य का मूल्यांकन करते समय एक और विशेष बात की ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए। हिंदी के प्रति उनका यह अनुराग किसी अन्य भाषा के प्रति द्वेष के कारण नहीं है। वे न केवल अपने देश की दूसरी भाषाएँ बल्कि विदेशी भाषाओं को सीखने का आग्रह भी करते हैं। जहाँ एक ओर वे यह कहते हैं कि 'दयानन्द के नेत्र वह दिन देखना चाहते हैं जब कश्मीर से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक नागरी अक्षरों का प्रचार होगा। मैंने आर्यावर्त भर में भाषा का ऐक्य सम्पादन करने के लिए ही अपने सकल ग्रन्थ आर्यभाषा में लिखे और प्रकाशित किये हैं।' वहीं वे उतने ही आग्रहपूर्वक कहते हैं "जब पाँच-पाँच वर्ष के लड़का-लड़की हों तब देवनागरी अक्षरों का अभ्यास करायें, अन्य देशीय भाषाओं के अक्षरों का भी।"[44]

वे मानते थे कि व्यक्ति को बहुभाषाविद् होना चाहिए । प्राचीनकाल से आर्य लोग कई-कई भाषाएँ जानते थे। नाना जातियों का मिलन और उनमें परस्पर विवाह सम्बन्ध होते रहते थे। इस कारण ऐसा होना स्वाभाविक था। 31 जुलाई सन् 1875 को पुणे में इतिहास विषयक अपने बारहवें व्याख्यान में वे स्पष्ट बताते हैं कि लाख के घर का भेद विदुर ने युधिष्ठिर को वबंरदेश की भाषा में बतला दिया था। वह भाषा धर्मराज (युधिष्ठिर) को आती थी। तभी पाण्डव लाख के घर में जलने से बच गये थे। यही नहीं, तत्कालीन पोंगा पंथियों का उपहास करते हुए उन्होंने आगे कहा-

"देखो! विदुर, युधिष्ठिर, भीष्म आदि बहुत-सी भाषाओं को जाननेवाले थे। वे पश्चिम की बहुत-सी भाषाएँ बोल सकते थे। आजकल के शास्त्री महाराजाओं से यदि कहो कि यावनी और म्लेच्छ भाषा सीखने में कोई दोष नहीं तो वे कहने लगते हैं:

न वदेद यावनीभाषा प्राणैः कण्ठ गतैरपि । हस्तिन्ते ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैन मन्दिरम्।

यदि प्राण गले तक आ जाए अर्थात् मृत्यु का समय तक क्यों न आ जाए परन्तु यावनी भाषा नहीं बोलनी चाहिए और मत्त हाथी भी सामने से आता हो तो जैन मन्दिर में कदापि आश्रय न लेवें।"[45]

स्वामी जी को उर्दू भाषा से कोई द्वेष नहीं था। उनसे पत्र-व्यवहार करने बालों में ऐसे अनेक व्यक्ति थे जो उन्हें उर्दू में ही पत्र लिखते थे। वे इस देश को आर्यावर्त और यहाँ के निवासियों को आर्य कहते थे। उनकी राय में प्रारम्भिक युग में दो ही वर्ग थे आर्य अर्थात सज्जन और दस्यु अर्थात दुष्ट।

इस बात में कोई दो-राय नहीं है कि 'सत्यार्थ प्रकाश' ने हिंदी के विकास में अहम् भूमिका निभाई है। स्वामी दयानंद गुजराती मातृभाषी थे। वह संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। वह एक अरसे तक अन्य भाषा-भाषियों से सरल संस्कृत में बात करते रहे। उन्होंने हिंदी प्रदेशों में घूमते हुए बाद में कामचलाऊ हिंदी सीखी थी। बंगाल की यात्रा के दौरान वे केशवचंद्र सेन और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे मनीषियों से मिले और उनके आग्रह पर उन्होंने प्रचलित लोकभाषा (हिंदी) में आर्य समाज का प्रचार-प्रसार आरम्भ किया। सन् 1873 के मार्च में सम्भवतः यह घटना घटी थी। उस समय स्वामी

दयानंद सरस्वती की उम्र लगभग 48 वर्ष की थी। और उसके लगभग पन्द्रह माह बाद यानी जीवन के पचासवें वर्ष में उन्होंने काशी में हिंदी में अपना पहला भाषण दिया। उनके भाषण साधारण नहीं होते थे। उन्हें अपना पक्ष समर्थन करने के लिए अनेक धर्मग्रन्थों से प्रमाण देने पड़ते थे और ऐसी तर्कसम्मत भाषा का प्रयोग करना पड़ता था जो विरोधी पक्ष को निरस्त्र कर सके। कल्पना की जा सकती है कि कितनी तन्मयता और सूझ-बूझ से उन्होंने हिंदी भाषा की आत्मा को आत्मसात करने का प्रयत्न किया होगा। भाषा के जरा-से भी गलत प्रयोग से अर्थ का अनर्थ होने की सम्भावना रहती है; विशेषकर शास्त्रार्थ के अवसर पर। जैसाकि उनके जीवनीकार देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के वर्णन के आधार पर हमने देखा कि वे उस भाषण में वाक्य के वाक्य संस्कृत में बोल गये थे। भाषा पर पूर्ण अधिकार करने में उन्हें काफ़ी समय लगा। जिस समय स्वामी जी ने हिंदी को अपनाया, उस समय देश में उसकी क्या स्थिति थी, यहां यह जान लेना आवश्यक है। डॉ. राममनोहर लोहिया ने एक बार एक लेखक से कहा था "किसी भी देश पर मध्यप्रदेश का शासन होता है, सीमांत प्रदेशों का नहीं। भारत के मध्यप्रदेशों की भाषा हिंदी है। वही देश की राजभाषा होगी। इसी बात को पिछली शताब्दी में स्वामीजी ने समझ लिया था और इसीलिए मध्य देश की भाषा (हिंदी) के प्रचार को मुख्य सुधार की नींव समझकर उसे राजभाषा का स्थान दिलाने के लिए सरकार द्वारा नियुक्त हंटर कमीशन के पास हिंदी के पक्ष में स्थान-स्थान से स्मरण पत्र भिजवाये।"[46]

उन्होंने उस समय के राजाओं को प्रेरित किया "वे अपने राज्य का काम-काज सरल हिंदी में चलावें। उनकी सलाह पर उदयपुर के महाराजा ने साधारण लोगों की समझ में आनेवाली सरल हिंदी को राजभाषा बनाया और नागरी लिपि को स्वीकार

किया। राजकीय कार्यालयों के नाम संस्कृत शैली के अनुसार रखे जैसे महद्राज सभा, शैलकान्तार सम्बन्धिनी सभा, निज सैन्य सभा, शिल्प सभा आदि।"[47]

स्वामी जी ने जोधपुर नरेश को भी राजकुमारों को पहले देवनागरी भाषा फिर संस्कृत और उसके बाद (समय हो तो) अंग्रेजी पढ़ाने की सलाह दी थी। एक बार हिंदी को देश की एकता की भाषा स्वीकार कर लेने पर उन्होंने जीवन के अंतिम क्षण तक उसके प्रचार और प्रसार के लिए अनथक प्रयत्न किये और किसी दूसरी भाषा के प्रति द्वेष रखे बिना किये। उन्हीं की प्रेरणा पर कर्नल आलकाट ने नागरी पढ़नी आरम्भ की। एक सज्जन ने जब उनसे उनके ग्रंथों का उर्दू में अनुवाद करने की अनुमति चाही तो उन्होंने लिखा, "जिन्हें सचमुच मेरे भावों को जानने की इच्छा होगी वे इस आर्यभाषा को सीखना अपना कर्तव्य समझेंगे। अनुवाद तो विदेशियों के लिए होते हैं।"[48]

इसी तरह मैडम ब्लावैट्स्की को उन्होंने लिखा था-

"भारत की आर्य जनता (अंग्रेजी के विद्यार्थी) मेरे वेद भाष्य के अंग्रेजी अनुवाद के प्रकाशित होने पर संस्कृत और हिंदी का अध्ययन त्याग देगी। मेरे वेदभाष्य समझने के लिए संस्कृत और हिंदी का अध्ययन, जिसको वे कर रहे हैं और जो मेरा मुख्य उद्देश्य है नष्ट हो जायेगा।"[49]

वे आगे लिखते हैं, "मेरा विचार आपको अनुवाद करने से रोकने का नहीं है, क्योंकि बिना अंग्रेजी अनुवाद के यूरोपियन जातियाँ सत्य के प्रकाश को नहीं पा सकतीं।"[50]

वे तो बस यही कहते थे कि "जो इस देश में उत्पन्न होकर अपनी भाषा (देश की भाषा) के सीखने में कुछ भी परिश्रम नहीं करता उससे और क्या आशा की जा सकती

है।"[51]

अपने प्रचार-कार्य के सम्बन्ध में इधर-उधर घूमते हुए उन्होंने समझ लिया था कि यद्यपि संस्कृत देववाणी है तथापि उसमें सर्वसाधारण की भाषा बनने की योग्यता नहीं रह गयी है। शासकों की भाषा अंग्रेजी विदेशी भाषा है। भाषा के हर शब्द का एक वातावरण होता है और वह उस देश की संस्कृति और प्रकृति से निर्मित होता है। प्रत्येक संस्कृति की अपनी विशिष्टताएं होती हैं और भाषा इन विशिष्टताओं की वाहक है। भाषा के बदल जाने पर उस संस्कृति विशेष में उथल-पुथल हो जाने की पूरी सम्भावना होती है। जिस भाषा की रूपरेखा और भाव-व्यंजना देश की संस्कृति से मेल नहीं खाती, वह भाषा उस देश को स्वीकार्य नही हो सकती। स्वामीजी के कार्य का मूल्यांकन करते समय हमें यह समझना होगा कि हिंदी भाषा उनकी मातृभाषा नहीं थी। वे हिंदी को लेकर भारत की राष्ट्रभाषा बनाने नहीं चले थे। इसके विपरीत राष्ट्रभाषा की आवश्यकता अनुभव करते-करते हिंदी तक जा पहुँचे थे। एक और सत्य को उन्होंने उसी युग में पहचान लिया था। वे अंग्रेजी पढ़ने के विरोधी नहीं थे। लेकिन वे इस बात को जान गये थे और उन्हें इस बात का दुख था कि 'अंग्रेजी लोगों की मातृभाषा हो चली है?' इसीलिए उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश के आदि संस्करण में लिखा है, "केवल अंग्रेजी पढ लेने से सन्तोष कर लेना अच्छी बात नहीं है। किन्तु सब प्रकार की पुस्तक पढ़ना चाहिए।"[52]

राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रति उनकी ऐसी अनन्य सक्रिय भक्ति देखकर ही हिंदी साहित्य सम्मेलन ने सन् 1913 में स्वामी श्रद्धानन्द को भागलपुर, बिहार में होनेवाले अपने चौथे वार्षिक अधिवेशन का अध्यक्ष मनोनीत किया था। अपने अध्यक्षीय भाषण

में उन्होंने घोषणा की थी पर भाषा में विचार उठने से जहाँ सभ्यता विदेशी होगी, वहाँ राष्ट्र भी भारतीय न रहेगा। भाषा ही तो जातियों के जीवन का साधन होती है। बिना एक राष्ट्रभाषा के प्रचार के राष्ट्र संगठित होना वैसा ही दुष्कर है जैसे बिना जल के मीन का जीवन।"[53]

स्वामी दयानन्द का हिंदी गद्य के निर्माताओं में विशिष्ट स्थान है। उन्होंने जीवन के अन्तिम दशक में आर्यभाषा (हिंदी) में बिपुल साहित्य लिखा। उनकी कालजयी रचना 'सत्यार्थ प्रकाश' ने हिंदी के गौरव को आगे बढाया। विदेशों में नैरोबी और जंजीबार में भी हिंदी पाठशालाएँ खोली गईं। पंजाब जैसे उर्दूपरस्त प्रदेश में हिंदी में पत्र-व्यवहार होने लगा। बहुत लोग हिंदी सीखने लगे। वे भी टूटी-फूटी हिंदी लिखने में गौरव अनुभव करने लगे। स्वामी दयानन्द ने हिंदी प्रेम को खूब बढ़ावा दिया। आर्यसमाज लाहौर के मन्त्री सरदार जवाहरसिंह के पत्र के उत्तर में उन्होंने मार्च 1883 में लिखा था: "जो तुमने इतनी बड़ी चिट्ठी आर्यभाषा में लिखी, यही हमने तुम्हारी शुद्धी जानी।"[54]

अगर सार रूप में बात की जाय तो औपनिवेशिक काल में भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी की शक्ति निरन्तर बढ़ती जा रही थी। उसके लिए देश की भाषा को जानना-अपनाना अपने शासन को सुदृढ़ करने की दृष्टि से अनिवार्य था। इसीलिए सन् 1800 में उसने फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की। इस कालेज के प्रधानाध्यापक गिलक्राइस्ट महोदय यद्यपि उर्दू के पक्षधर थे पर हिंदी की अवहेलना करना भी उनके लिए सम्भव नहीं था क्योंकि जनसाधारण में हिंदी का प्रचलन था। इसलिए गोरों ने दोनों भाषाओं को प्रोत्साहित किया। इस कालेज में लल्लूलाल और सदल मिश्र ने अनेक

हिंदी ग्रन्थों की रचना की। उनमें लल्लूलाल का 'प्रेमसागर' और सदल मिश्र का 'नासिकेतोपाख्यान' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये दोनों ही ग्रन्थ मौलिक नहीं थे। पूर्व प्रचलित ब्रजभाषा और संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर लिखे गये थे। इनकी भाषा भी परिमार्जित नहीं है। लल्लूलाल पर ब्रजभाषा का प्रभाव बहुत अधिक है। सदल मिश्र की भाषा अपेक्षाकृत अधिक पुष्ट है।

हिंदी गद्य के प्रसार में ईसाई प्रचारकों का योगदान भी भूलने योग्य नहीं है। उनका उद्देश्य निश्चय ही अपने धर्म को जनता में लोकप्रिय बनाना था और वह उस समय की लोक प्रचलित भाषा हिंदी के माध्यम से ही हो सकता था। इसलिए उन्होंने बाइबिल का हिंदी में अनुवाद किया। अनेक पुस्तकें तथा विज्ञापन आदि हिंदी में लिखे। पाठशालाएँ भी स्थापित की। पाठ्य पुस्तकें तैयार की। वे प्रायः संस्कृतनिष्ठ हिंदी का प्रयोग करते थे। पाठ्य-पुस्तकों की रचना में अनेक विदेशी भाषाओं की पुस्तकों से अनुवाद भी करना होता था। इससे एक लाभ यह हुआ कि हिंदी गद्य भी परिष्कृत हुआ।

इसी समय एक ऐसी घटना घटी जिससे हिंदी गद्य के विकास को गहरी क्षति पहुंची। चूंकि ईसाई प्रचारक हिंदी के माध्यम से ईसाई मत का प्रचार कर रहे थे इसलिए कम्पनी की सरकार में सरकारी दफ्तरों की भाषा भी हिंदी कर दी। अब तक फ़ारसी भाषा ही शासन और न्याय की भाषा थी। उसको अपदस्थ होते. देखकर उर्दू भाषा के समर्थक क्रुद्ध हो उठे। उनमें फ्रांसीसी प्राध्यापक गार्सां-द-तासी प्रमुख थे। उनका तर्क था, "हिंदी, हिन्दू धर्म की प्रतीक है लेकिन उर्दू, मुसलमानों की भाषा है जो बाइबिल को मान देते हैं। उनका मत ईसाई मत से मिलता-जुलता है।"[55]

विदेशी शासकों में हिन्दू-मुसलमानों को लड़ाने की प्रवृत्ति शुरू से ही रही है। इन उर्दू समर्थकों ने हिंदी को गँवारू और भद्दी भाषा कहते हुए संयुक्त प्रदेश के शिक्षा सचिव हैवेल के शब्दों में घोषणा की, “यह अधिक अच्छा होता यदि हिन्दू बच्चों को उर्दू सिखाई जाती न कि एक ऐसी बोली में विचार करने का अभ्यास कराया जाता जिसे अन्त में एक दिन उर्दू के सामने सिर झुकाना पड़ेगा।”[56] सचमुच एक ही वर्ष में उनके दबाव में आकर सरकार ने सन् 1837 में उर्दू को सरकारी कामकाज की भाषा के पद पर बैठा दिया। लेकिन ये लोग न तो जनता के मन से और न पाठशालाओं से हिंदी को हटा सके। उस समय यदि कोई समझदार व्यक्ति इस दूरी को मिटाकर इन दोनों को पास लाने का प्रयत्न करता तो इतिहास कुछ और ही होता। उस समय राजा शिवप्रसाद जैसे व्यक्ति प्रमुख थे। वे विद्यालयों के निरीक्षक थे और शासकों को खुश रखना उनका प्रथम कर्तव्य था। यद्यपि उन्होंने देवनागरी लिपि का समर्थन किया पर भाषा उर्दू और हिंदी के मिले जुले रूप का समर्थन किया। यह सब उन्होंने अपना हित साधने के लिए किया। 1 जनवरी, 1884 को हेनरी पिनकाट ने भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र को जो पत्र लिखा था उसमें वह स्पष्ट कहते हैं-

“राजा शिवप्रसाद बड़ा चतुर है। बीस वर्ष हुए उसने सोचा कि अंग्रेजी साहबों को कैसी-कैसी बातें अच्छी लगती हैं।...इसलिए बड़े बाल से उसने काव्य को और अपनी हिंदी भाषा को भी बिना लाज छोड़कर उर्दू के प्रचलित करने में बहुत उद्योग किया।”[57]

इसके विपरीत राजा लक्ष्मण सिंह की मान्यता थी कि संस्कृत शब्दों से युक्त हिंदी हिन्दुओं की भाषा है और अरबी-फ़ारसीमय उर्दू मुसलमानों की । उन्होंने संस्कृतनिष्ठ भाषा को अपनाया।

ऐसी विषम स्थिति में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने रंगमंच पर प्रवेश किया। उन्होंने हिंदी को नयी दिशा दी। हिंदी साहित्य में नये प्राण फूंके। वे सही अर्थों में आधुनिक हिंदी साहित्य के जनक बने। उन्होंने हिंदी गद्य को परिष्कृत और परिमार्जित करके नये साँचे में ढाला लेकिन कविता की भाषा को लेकर अब भी मतभेद था। अभी तक सारे देश में ब्रजभाषा लोकप्रिय रही थी। उसके समर्थक मानते थे "खड़ी बोली 'चूरन बेचनेवालों' की भाषा है। उसमें काव्य-रचना सम्भव नहीं हो सकती । स्वयं भारतेन्दु का यही मत था। उन्होंने अपने नाटकों में पद्य के लिए ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है। जो उर्दू के समर्थक थे उन्हें हिंदी का विरोध करने के लिए यह एक अच्छा साधन मिल गया। उर्दू में गद्य और पद्य की भाषा एक ही है, हिंदी में दो। यह हिंदी का दोष है। इसका कारण था कि तब बहुत-से व्यक्ति उर्दू पढ़ना पसन्द करते थे।"[58] साथ ही वह सरकारी कामकाज की भाषा भी थी।

अतः यह सच है कि हिंदी प्रदेशों से बाहर जहाँ सत्यार्थ प्रकाश या आर्यसमाज का प्रसार कम हुआ वहाँ हिंदी के प्रचार की गति धीमे हुई। भावनात्मक स्तर पर राष्ट्रभाषा और संवैधानिक स्तर पर राजभाषा होने के बाद भी इसका मार्ग प्रशस्त न हो पाया। आज भी दक्षिण भारत प्रदेशों में हिंदी की गति बहुत धीमी है।

2.6 नागरी प्रचारिणी सभा की भाषा-नीति

हिंदी साहित्य में 19वीं सदी जहाँ एक ओर हिंदी भाषा के स्वरूप निर्धारण व नागरी प्रचारिणी सभा के गठन के कारण चर्चित रही है वहीँ दूसरी ओर इससे संबंधित भाषाई विमर्श व उससे जुड़े हुए विवादों के कारण उथल-पुथल से भरी रही है। इस काल खण्ड में हिंदी, उर्दू और ब्रज भाषा आपस में इतनी सम्मिलित थीं कि इनका

यथोचित वर्गीकरण करना एक जटिल कार्य था। इसमें हिंदी का हिन्दू से तथा उर्दू का मुसलमान से संबंध अनिवार्य रूप से जुड़ गया था। इस क्रम में ब्रज भाषा परम्परागत कारणों से हिन्दुओं के पलड़े में रही। सामान्यतः नागरी प्रचारिणी सभा का उद्देश्य हिंदी भाषा तथा नागरी लिपि का उत्थान रहा है। अब इस प्रक्रिया में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कहीं न कहीं उर्दू या फिर मुसलमानों का विरोध या फिर विरोध जैसे तत्वों को लेकर भ्रम व विभ्रम जैसी स्थिति तो बननी ही थी। ऐसे माहौल में सभा के अपने नाम से लेकर 'आर्यभाषा पुस्तकालय' तक का नाम एक हिंदूपन की झलक प्रस्तुत करता है। इस प्रकार न चाहते हुए भी एक सामान्यीकृत ढंग से नागरी प्रचारिणी सभा और उसकी भाषा नीति पूरी तरह से सेक्युलर न होने या फिर सांप्रदायिकता के घेरे में दिखती है, किंतु ऐसा मान लेना जल्दबाजी होगी। इस पर अभी और अधिक विचार किए जाने की आवश्यकता है। सभा के भाषा सम्बन्धी दृष्टिकोण पर विचार करने के दौरान भाषा-संबंधी हिन्दू-मुसलमान का यह मतैक्य सभा के गृह-प्रवेश समारोह के प्रसंग में भी दिखाई पड़ता है। जब 18 फरवरी 1904 ई. को सभा के नवनिर्मित भवन का उद्घाटन करने आए प्रदेश के लेफ्टिनेंट गवर्नर 'सर जेम्स लाटूश' के स्वागत में सभा के तत्कालीन सभापति सुधाकर द्विवेदी द्वारा दिया गया वक्तव्य- 'धनी भाग आज कि भवन में नाथ तिहारे पग पड़े' विद्वानों के मध्य भाषा-नीति निर्धारण का एक विवादित विषय बन गया। जिसके पक्ष व विपक्ष में विविध विद्वानों के मतों को आधार स्वरूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। जैसे- वहां मौजूद अयोध्याप्रसाद खत्री ने इस 'गंवारू बोली' में संबोधन किए जाने की शिकायत करते हुए चंद्रधर शर्मा गुलेरी से कहा कि यदि यह स्वागत संबोधन खड़ी बोली में किया जाता तो हम मुसलमानों को भी अनुकूल कर सकते थें। इस घटना का जिक्र करते हुए चंद्रधर शर्मा गुलेरी जी ने खत्री जी पर लिखे

अपने संस्मरण में लिखा है- "बाबू साहब को उन कठिनाइयों का ज्ञान न था जो खड़ी बोली में एड्रेस देने पर सभा को पड़ती, क्योंकि सबके सामने पॉलिसी में 'सरल भाषा के पक्षपाती' बनने वालों को निखालिस उर्दू शब्द काम में लाने पड़ते और काशी नाम को कुछ और गौरव से रहित करना पड़ता।"[59] अर्थात् भाषा का धर्म के साथ जो अनिवार्य संबंध जोड़ दिया गया, वह नागरी प्रचारिणी सभा में कमोबेश बना रहनागरी प्रचारिणी सभा में भाषा मुख्य रूप से विमर्श व बहस के केंद्र में थी। जब हम इसके कारणों की पड़ताल करते हैं तो देखते हैं कि सभा की कोई एक स्पष्ट व निर्धारित भाषा नीति नहीं थी। इसलिए नागरी प्रचारिणी सभा की भाषा नीति को समझने हेतु हमें सभा से संबंधित भाषा के स्वरूप उसके विचार-विमर्श व विवादों को सही तरीके से समझना आवश्यक हो जाता है। सामान्य तौर पर यह कहा जा सकता है कि सभा की भाषा नीति संस्कृत की तरफ झुकी हुई थी। किंतु इस पर पर्याप्त विचार किए जाने की जरूरत है जो आगे विस्तृत रूप में दिखाई देगा। समय-समय पर हिंदी भाषा के स्वरूप को लेकर चलने वाले विचार-विमर्श व बहसों के बीच हिंदी का अपना स्वरूप निर्मित होता रहा है। इसके प्रारंभिक विवादों में पंडित लक्ष्मी शंकर मिश्र व सभा का विवाद उल्लेखनीय है। जिसकी चर्चा क्रिस्टोफर किंग के शोध प्रबंध के साथ ही साथ आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा लिखित 'नागरी प्रचारिणी सभा का संक्षिप्त इतिहास' में भी दिखाई पड़ता है। उस समय पाठ्यपुस्तक में अपनाई जाने वाली हिंदी की शैली को लेकर पश्चिमोत्तर प्रांत की सरकार द्वारा 1902 ई. में एक पत्र डायरेक्टर ऑफ पब्लिक इंस्टिट्यूशन को भेजा गया जिसके आधार पर प्रांतीय पाठ्य पुस्तक समिति द्वारा नागरी प्रचारिणी सभा के सभापति से उपरोक्त विषय पर सभा के विचार मांगे गए। सभा द्वारा तय किए गए विचारों से सभापति लक्ष्मी शंकर मिश्र असहमत थें।

फलस्वरूप सभा की ओर से इस विषय पर क्रमशः एक विचार पं. लक्ष्मी शंकर मिश्र के द्वारा और दूसरा सभा ने सचिव के हस्ताक्षर के साथ भेजा। पं. लक्ष्मी शंकर मिश्र ने जो विचार प्रांतीय पाठ्य पुस्तक समिति के सचिव को भेजा उसमे हिंदी भाषा सम्बन्धी विचार इस प्रकार थें, "उर्दू और हिंदी के व्याकरण में बहुत थोड़ा अंतर है। देशी भाषा के दोनों रूपों में लगभग सभी व्याकरणिक पदावलियां और संरचनाएं समान हैं और मुख्य अंतर यह है कि उर्दू लिखने वाले बड़ी मात्रा में फ़ारसी और अरबी शब्दों का प्रयोग करते हैं और दूसरी तरफ हिंदी लिखने वाले संस्कृत शब्दों का।------- इसका नतीजा है कि देशी भाषा की दो शैलियों के बीच की खाई लगातार बढ़ती जा रही है। चूँकि दोनों का व्याकरण एक ही है इसलिए वे अलग-अलग भाषाएँ नहीं समझी जानी चाहिए।-------इन दोनों शैलियों को मिलकर एक भाषा विकसित करने की कोशिश की जानी चाहिए जिसे हिन्दुस्तानी कहा जा सकता है।"[60] यद्यपि पं. लक्ष्मीशंकर मिश्र के उपरोक्त भाषा संबंधी विचारों से साम्यता रखने वाले विचार सभा के अन्य लोगों के भी विचार रहे हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल भी पं. लक्ष्मीशंकर मिश्र की ही तरह हिंदी-उर्दू को एक ही भाषा की दो शैलियां मानते हैं। 'हिंदी और मुसलमान' नामक निबंध में जो कि 19 अप्रैल 1917 ई. के 'द लीडर' में छपा था इस निबंध में शुक्ल जी का कहना था कि- "हर विद्वान जानता है कि उर्दू कोई स्वतंत्र भाषा नहीं है। यह पश्चिमी हिंदी की एक शाखा मात्र है जिसे मुसलमानों द्वारा अपनी एकांतिक रुचियों और पूर्वग्रहों के अनुकूल एक निजी रूप दे दिया गया है। इस प्रकार हिंदी और उर्दू एक ही भाषा के दो रूप हैं।"[61] पं. लक्ष्मीधर मिश्र और आचार्य शुक्ल के विचारों से साम्यता रखता हुए बाबू श्याम सुन्दर दास ने 1898 ई. में भाषा के स्वरूप पर विचार करने के लिए बनाई गई उपसमिति की सम्मतियों की रिपोर्ट में लगभग वही बातें लिखी हैं जो पं. लक्ष्मीशंकर

मिश्र की चिट्ठी में हैं।

जब हम पंडित लक्ष्मी शंकर मिश्र व सभा के बीच मतभेदों के कारणों को ढूंढते हैं तो इसके मूल में हिंदुस्तानी को पाते हैं, क्योंकि जिस हिंदुस्तानी भाषा के विकास की वकालत पंडित लक्ष्मी शंकर मिश्र करते हुए दिखते हैं, सभा का नजरिया उसके विरोध का है न कि भाषा के सहज, सरल और बोलचाल वाले स्वरूप के प्रतिरोध का। तत्कालीन परिस्थितियों में हिंदुस्तानी के विरोध के दो सबसे प्रमुख कारण दिखलाई पड़ते हैं। एक कारण यह था कि हिंदुस्तानी में गंभीर लेखन असंभव है यह हल्के-फुल्के लेखन की ही भाषा बन सकती है। दूसरा यह कि हिंदुस्तानी के रूप में उर्दू स्थापित हो जाएगी , जिससे हिंदी का अस्तित्व खतरे में पड़ जाएगा। हिंदुस्तानी विरोध के पीछे उपरोक्त धारणाएं उस परिवेश में एक सामान्य बोध की भांति कायम थी जिसका प्रतिबिंब हमें आचार्य रामचंद्र शुक्ल सहित बाबू श्यामसुंदर दास, महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि विद्वानों के यहां स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। बाबू श्यामसुंदर दास इस मत के परिप्रेक्ष्य में लिखते हैं कि- "मैं समझता हूं कि हिंदुस्तानी के प्रचार से हिंदी को बड़ी हानि पहुंचने की आशंका है, क्योंकि हिंदुस्तानी के पक्षपाती विशेषकर वे ही लोग हैं जो हिंदी से स्थूल रूप से परिचित या सर्वथा अपरिचित हैं और उर्दू से विशेष परिचित हैं। इसके अतिरिक्त हिंदुस्तानी में उच्च कोटि के साहित्य की रचना नहीं हो सकती।"[62] इसी प्रकार की समर्थित चर्चा के सन्दर्भ में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 1938 में फैजाबाद में आयोजित प्रांतीय साहित्य सम्मलेन के भाषण में अपना वक्तव्य दिया था। जिसका प्रकाशन 'हिंदुस्तानी का उद्गम' नामक पुस्तिका में प्रकाशित हुआ। जिसमें शुक्ल जी ने 'हिंदुस्तानी' के स्वीकार्य स्वरूप की भी चर्चा की है तथा अरबी-फारसी के

चलते शब्दों के साथ-साथ संस्कृत के भी प्रचलित शब्दों की मौजूदगी को स्वीकार्य किया। इस पर आगे विचार करने के क्रम में यह दिखाई पड़ता है कि हिंदुस्तानी को लेकर उपरोक्त निर्मित सामान्य बोध में उर्दू समर्थकों ने भी समय-समय पर आग में पर्याप्त मात्रा में घी डालने जैसी पुरजोर कोशिश की है। हिंदुस्तानी के रूप में उर्दू की धारणा से संबंधित परिस्थितियों को देखने पर साफ तौर पर यह स्पष्ट हो जाता है। इस संदर्भ में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के कथनों को 'क्या हिंदी नाम की कोई भाषा है ही नहीं' नामक निबंध में देखा जा सकता है- "श्रीयुत असगर अली खां के इस कथन से की 'उर्दू और हिंदुस्तानी इज द लिंगुआ फ्रैंका ऑव द कंट्री' एक भेद की बात खुल गई। वह यह कि आप लोगों की राय में यह हिंदुस्तानी और कुछ नहीं, उर्दू का ही एक दूसरा नाम है। अतएव समझना चाहिए कि जब हिंदुस्तानी भाषा के प्रयोग पर जोर दिया जाता है तब 'हिंदुस्तानी' नाम की आड़ में उर्दू ही का पक्ष लिया जाता है। और बेचारी हिंदी के बहिष्कार की चेष्टा की जाती है।"[63] उपर्युक्त उद्धरणों से 'हिंदुस्तानी' के बारे में उस समय कि आम राय स्पष्ट हो जाती है। हालांकि सभा के 'हिंदुस्तानी विरोधी' रवैये की चर्चा के सिलसिले में ही एक और प्रसंग 'बाबू देवकीनंदन खत्री के उपन्यासों की भाषा और सभा का उसके प्रति रुख' पर भी विचार करने की जरूरत है, जिसका उल्लेख नागरी प्रचारिणी सभा की भाषा-नीति के संदर्भ में भी परिलक्षित होता है।

नागरी प्रचारिणी सभा की भाषा-नीति साहित्यिक भाषा के सन्दर्भ में हमेशा से थोड़ी गंभीर भाषा को प्रश्रय देने की रही है। गंभीर का अर्थ निश्चित रूप से संस्कृत की तरफ झुकाव ही है। हिंदी में संस्कृत के शब्द और उर्दू में अरबी-फारसी के शब्द भाषा को गंभीर बनाने के लिए आवश्यक समझे जाते थें। साहित्यिक भाषा गंभीर होनी

चाहिए तथा गंभीर विषयों के लेखन के लिए भाषा भी गुरु-गंभीर होनी चाहिए यह कुछ हद तक सभा का भी विचार रहा है। यद्यपि सभा के कई सभासदों के विचार थें कि गंभीर विषयों पर यदि हल्की-फुल्की सरल भाषा में लिखा जाए तो वह अपना पूरा प्रभाव नहीं छोड़ पाता किंतु साथ ही प्रारंभ से लेकर भाषा नीति के उत्तरार्द्ध तक ऐसे लोग भी सभा के सदस्य रहे हैं जो भाषा के सहज, सरल रूप को महत्व देते रहे। सन् 1938 में प्रकाशित पंडित किशोरी दास वाजपेई की प्रसिद्ध पुस्तक 'हिंदी शब्दानुशासन' के लिए भी वाजपेयी जी को सभा द्वारा भाषा-संबंधी कुछ ऐसे ही निर्देश दिए गए थें जिसे उन्होंने मानने से इंकार करते हुए साफ-साफ लिखा कि, "सभा का निर्देश मैंने माना नहीं था कि ग्रंथ की भाषा ऐसी गुरु-गंभीर होनी चाहिए जैसी कि शास्त्रों की होती है। कठिन विषय के नवीन तत्व यदि वैसी गुरु (बोझिल) भाषा में प्रकट किए जाएं तो समझने वालों पर आफत! सरल सहज भाषा में कठिन तत्व भी अच्छी तरह झलकते हैं। इसीलिए 'सभा' का निर्देश (भाषा तथा शैली के संबंध में) मैंने नहीं माना था।"[64] यह वक्तव्य इस अभिमत को भी परिलक्षित करता है कि भाषा-नीति के निर्धारण में सभा का क्रियात्मक व्यवहार रूढ़िगत या अड़ियल नहीं था। सभा की भाषा-नीति के संबंध में यह बात सच है कि वह संस्कृत की ओर स्वभाविक रूप से झुकी हुई थी लेकिन एक दूसरी बात भी उतनी ही सच है कि भाषा संबंधी भिन्न मत रखने वाले लोग भी सभा से जुड़े रहें। अर्थात् सभा का रवैया ऐसा नहीं था कि भाषा संबंधी उसकी 'पंच लाइन' से बाहर जैसे ही कोई गया, वह सभा के लिए त्याज्य हो गया। यहाँ तक कि सभा ने हिंदी आंदोलन के नेताओं की तरह इन्हें 'आर्य खून' और 'हिंदू' मानने से भी इंकार नहीं किया जिसका स्पष्टीकरण 'क्रिस्टोफर किंग' द्वारा

उद्घाटित घटना से भी मिलता है- "चूंकि सभा का वजूद ही हिंदी-उर्दू के अलगाव पर टिका है इसलिए उन्हें (हिंदी-उर्दू को) परस्पर मिलाने या उनके अलगाव को कम करने का कोई भी प्रयास सभा की बुनियाद को कमजोर करता था।"[65] अर्थात् सभा हिंदी-उर्दू के अलगाव का उद्देश्य लेकर ही चली थी लेकिन यदि सभा के उद्देश्यों तथा उसके तमाम प्रयासों और कार्यों को देखा जाए तो वह बहुत हद तक शुद्ध रूप से साहित्यिक और अकादमिक रहे हैं। यद्यपि सभा साहित्यिक भाषा के स्तर पर हिंदी और उर्दू की अलग-अलग परंपराओं को मानती थी। यह मत इतना भी निराधार और बेतुका नहीं था कि एक ही प्रदेश और एक ही भाषा की दो अलग-अलग शैलियां होने के बावजूद हिंदी और उर्दू की साहित्यिक-सांस्कृतिक परंपरा बिल्कुल अलग-अलग थी। हिंदी जहां संस्कृत से लेकर हिंदी क्षेत्र की विभिन्न बोलियों की साहित्यिक-सांस्कृतिक परंपरा से अपने को जोड़ती है, वहीं उर्दू मूलतः फारसी और अरबी से जुड़े होने के कारण परोक्ष रूप से अरबी साहित्य और संस्कृति से जुड़ती है। उर्दू की अपनी अलग साहित्यिक परंपरा का उल्लेख उर्दू कविता के मशहूर आलोचक प्रो.कलीमुद्दीन अहमद की बहुचर्चित पुस्तक 'उर्दू कविता पर एक दृष्टि' में देखने को मिलती है। इसमें वह लिखते हैं कि, "उर्दू कविता का पालन-पोषण फ़ारसी की छत्र-छाया में हुआ और यह कुछ आश्चर्य की बात नहीं और कोई बुरी बात भी नहीं।... यदि उर्दू कविता अपने प्रारंभिक सोपनों को तय कर लेने के बाद फारसी के प्रभाव से मुक्त हो जाती और स्वतंत्र होकर अपनी दुनिया अलग बनाती तो कुछ शिकवा-शिकायत की गुंजाइश न थी। किंतु यह आजादी उसके भाग्य में न थी।" अब यह सवाल है कि हिंदी और उर्दू की अलग-अलग साहित्यिक परंपराएं तो थी, लेकिन क्या हिंदुस्तानी की कोई साहित्यिक-सांस्कृतिक

परंपरा थी? यहां हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि 'हिंदुस्तानी' का नारा मूलतः हिंदू-मुस्लिम एकता को ध्यान में रखते हुए दिया जा रहा था। कुछ हद तक गांधी जी और प्रेमचंद भी 'हिंदुस्तानी' की बात हिंदू-मुस्लिम अलगाव को कम करने के लिए ही कर रहे थें। स्वयं प्रेमचंद, जो उर्दू से हिंदी में आए थे और 'हिंदुस्तानी' की वकालत भी करते थें।

नागरी प्रचारिणी सभा ने 1898 ई. में हिंदी भाषा तथा उसकी लिपि प्रणाली पर विचार करने के लिए एक उपसमिति बनाई थी। इसमें ग्यारह सभासद थें तथा उसके संयोजक बाबू श्यामसुंदर दास थें। इस समिति में आठ प्रश्नों पर 59 विद्वानों के विचार आए, जिनमें एक प्रश्न यह भी था कि, "हिंदी किस प्रणाली की लिखी जानी चाहिए अर्थात् संस्कृत-मिश्रित या ठेठ हिंदी या फ़ारसी-मिश्रित और यदि भिन्न-भिन्न प्रकार की हिंदी होनी उचित है तो किन-किन विषयों के लिए कैसी भाषा उपयुक्त होगी?"[67] इन प्रश्नों पर विद्वानों की सम्मतियां आ जाने पर उनके आधार पर बाबू श्यामसुंदर दास ने सभा के लिए एक रिपोर्ट तैयार की जिसमें इन प्रश्नों पर विचार किया गया। भाषा की कोई प्रणाली विकसित किए जाने के सन्दर्भ में बाबू श्यामसुंदर दास ने जो विचार दिए वह यह है कि, "किसी भाषा के लिखने की प्रणाली एक-सी नहीं हो सकती। विषय भेद तथा रुचिभेद से भाषा का भेद है। पृथ्वी पर जितनी भाषाएं हैं, सभी में कठिन और सरल लेख लिखने की रीति चली आती है। कहां कैसी भाषा लिखनी चाहिए, एक लेखक और विषय पर निर्भर है। इसके लिए कोई नियम नहीं बन सकता।"[68] बाबू श्यामसुंदर दास के उपर्युक्त कथन के आलोक में यह बात साफ-साफ जाहिर होती है कि भाषा की कोई एक निश्चित प्रणाली निर्मित नहीं की जा

सकती लेकिन यदि भाषा को सबके लिए बोधगम्य बनाना है तो उसमें हिंदी के सीधे शब्दों को काम में लाना होगा। संस्कृत के शब्दों के प्रयोग से भाषा कठिन होगी। इसके साथ ही श्याम सुंदर दास विदेशी शब्दों को भाषा में अपनाए जाने का भी विरोध नहीं करते बल्कि विषय के अनुसार विदेशी शब्दों के प्रयोग को भी वे भाषा की सहजता के लिए जरूरी मानते हैं। क्रिस्टोफर किंग ने अपने शोध प्रबंध में सभा की भाषा-नीति का जिक्र करते हुए विदेशी भाषा के शब्दों के प्रयोग के षड्यंत्र का पर्दाफाश करने की कोशिश की है। उन्होंने उल्लिखित किया कि कोई विदेशी भाषा का पूर्ण प्रचलित शब्द तभी प्रयोग किया जा सकेगा यदि उसके लिए हिंदी का कोई शब्द मौजूद नहीं हो। यदि हिंदी या संस्कृत का कोई भी शब्द, वह कठिन ही क्यों न हो, मौजूद है तो अरबी-फ़ारसी के प्रचलित शब्द को हटाया जा सकता है। अपने शोध प्रबंध में भाषागत शब्दों के प्रयोग के सन्दर्भ में वह लिखते हैं, "सबसे पहला स्थान शुद्ध हिंदी के शब्दों को, उसके पीछे संस्कृत के सुगम और प्रचलित शब्दों को, इसके पीछे फारसी आदि विदेशी भाषाओं के साधारण और प्रचलित शब्दों को और सबसे पीछे संस्कृत के अप्रचलित शब्दों को स्थान दिया जाए। फारसी आदि विदेशी भाषाओं के कठिन शब्दों का प्रयोग कदापि न हो।"[69] अर्थात् उपर्युक्त कथन में कठिन अप्रचलित शब्दों की जगह आसान, प्रचलित शब्दों के प्रयोग की बात कही है, भले ही प्रचलित शब्द विदेशी भाषा के ही क्यों न हों। यदि कठिन शब्द का ही चुनाव करना मजबूरी हो तब संस्कृत के कठिन शब्दों को स्थान दिया जाए।

श्यामसुंदर दास संस्कृत शब्दों की वृथा प्रयोग से बचने की बात करते हैं लेकिन हिंदी को संस्कृत से निकली हुई बताना, दोनों के बीच जननी और पुत्री का संबंध

बताना और हिंदी को अनिवार्य रूप से संस्कृत से जोड़कर देखना उस समय के 'कॉमनसेंस' का हिस्सा था। भाषा के बारे में हुए आधुनिक चिंतन इस बात को साफ करते हैं कि भाषाओं के बीच माता-पुत्री का संबंध नहीं होता। यद्यपि भाषाओं में परस्पर प्रभाव ग्रहण अवश्यक होता है। इस मत को तब ज्यादा ठीक से समझा जा सकता है जब हम यह मालूम कर पाते हैं कि उस समय आधुनिक भारतीय भाषाओं की उत्पत्ति के संबंध में 'संस्कृत माता की पुत्रियों' वाले सिद्धांत से अलग कोई संकल्पना या सिद्धांत दिए गए थे अथवा नहीं। हमें प्राप्त साक्ष्यों से ज्ञात होता हैं कि जॉर्ज ग्रियर्सन अपने 'लिंग्विस्टिक सर्वे आफ इंडिया' में आधुनिक भारतीय भाषाओं के संस्कृत से निकले होने का विरोध करते हैं। उक्त ग्रंथ की भूमिका में ही उन्होंने लिखा है, "भारत में बोलचाल की आर्य-भाषा शताब्दियों से आर्य कहलाती रही है। प्राकृत का अर्थ है- संस्कृत, समस्कृत, संवारी हुई, नकली भाषा से भिन्न, सहज, अकृत्रिम भाषा। प्राकृत की इस व्याख्या से यह परिणाम निकलता है कि वेदमंत्रों के संकलनकर्ता ब्राह्मणों ने इन मंत्रों में अपेक्षाकृत कृत्रिम संस्कृत भाषा सुरक्षित रखी है। वेदमंत्रों के समय की बोलचाल की भाषाएं वास्तव में प्राकृत थीं।"[70] ग्रियर्सन के अतिरिक्त पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी की प्रसिद्ध पुस्तक 'पुरानी हिंदी' में गुलेरी जी ने भी संस्कृत को आर्यों की मूल भाषा मानने से इंकार किया है तथा संस्कृत से अन्य भारतीय भाषाओं के संबंध को एक रूपक के माध्यम से स्पष्ट किया है। तत्कालीन भाषा विषयक विमर्श भी इस बात की ओर संकेत करते हैं कि हिंदी या अन्य आधुनिक भारतीय भाषाएं संस्कृत से निकली हुई भाषाएं नहीं है। वास्तव में भाषा की उत्पत्ति के संबंध में आधुनिक क्रांतिकारी चिंतन यह है कि किसी भी भाषा के बीच जननी-पुत्री का संबंध नहीं होता। इस कथन का स्पष्टीकरण करते हुए रामविलास शर्मा ने 'भाषा और समाज' में लिखा हैं कि,

"संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश की नसेनी छोड़ देने पर आधुनिक भाषाओं के मूल तत्व काफी प्राचीन सिद्ध होते हैं।"[71] रामविलास शर्मा का तत्कालीन चिंतन इतना क्रांतिकारी न होते हुए भी इतना तो स्पष्ट करता ही है कि हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं का संबंध सीधे-सीधे संस्कृत से नहीं है।

भाषा-नीति संबन्धी इन प्रसंगों का अभिज्ञापन करने के पश्चात् यह बात समझने की जरूरत है कि आखिर नागरी प्रचारिणी सभा भाषा के जिस स्वरूप को गढ़ने का प्रयास कर रही थी उसका उद्देश्य क्या था? असल में हिंदी के स्वरूप निर्धारण को लेकर जो बहसें और टकराहट हुई उसका सबसे महत्वपूर्ण कारण क्या था? इन बिन्दुओं का अभिमन्त्रण करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि हिंदी भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप में गढ़ने की कोशिश की जा रही थी क्योंकि भारत की किसी दूसरी भाषा, चाहे वह बांग्ला, मराठी, तमिल, तेलुगू आदि कोई भी हो, उसके स्वरूप निर्धारण का ऐसा प्रयास नहीं दिखाई पड़ता है। हिंदी में संस्कृत शब्दों की भर्ती के पीछे के कारणों में से एक कारण यह भी था कि भारत की लगभग सभी भाषाओं में यदि किसी एक कॉमन भाषा के सबसे ज्यादा शब्द मिलते हैं तो वह है संस्कृत। बंगला, मराठी, तमिल आदि सभी भाषाओं में संस्कृत के शब्द मिलते हैं। इन सब भाषाओं से एक संबंध बनाए रखने तथा हिंदी का अखिल भारतीय स्वरूप निर्मित करने के लिए हिंदी में संस्कृत के शब्दों को जगह देने की वकालत की जाती रही। श्यामसुंदर दास ने इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "देश के एक कोने से दूसरे कोने तक संस्कृत शब्दों का प्रचार है। हमारे सब धर्म कृत्य इसी भाषा में संपादित होते हैं। यदि भारत वर्ष में कोई ऐसी भाषा हो सकती है जो एकता के सूत्र में यहां की जनता को बांध सकती है तो वह वही भाषा

होगी जो संस्कृतप्राय होगी। हमारी हिंदी से चुन-चुन कर संस्कृत के साधारण से साधारण तत्सम शब्दों को निकालना और उनके स्थान में उर्दू के शब्दों को भरना, मानो हिंदी की जड़ में कुठाराघात करना है। यदि हिंदुस्तानी का प्रचार हो गया तो देश के अन्य भागों से बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात आदि से हमारा संबंध विच्छिन्न हो जाएगा।"[72] वस्तुतः यह ज्ञात है कि उन्नीसवीं सदी का हिंदी आंदोलन मूलतः हिंदी भाषा की श्रीवृद्धि के लिए चलाया गया आंदोलन नहीं था, बल्कि यह हिंदुओं को एकजूट करने के लिए चलाया गया आंदोलन था जिसमें 'गऊ' की तरह 'हिंदी' भी एक पवित्र प्रतीक थी जिससे हिन्दू मानस को गोलबंद किया जा सकता था। उपर्युक्त सभी मतों का संधारण करते हुए भी निष्कर्ष के रूप में इस मत का संचार किया जा सकता है कि अपने मूल संगठनात्मक स्वरूप में नागरी प्रचारिणी सभा एक धर्मनिरपेक्ष संस्था थी। यद्यपि हिंदुओं को संगठित करना इस सभा का बुनियादी मकसद नहीं था। यह संस्था मूलतः नागरी लिपि और हिंदी भाषा की प्रगति का उद्देश्य लेकर चली। सभा के कार्यों और प्रयासों को भी देखा जाए तो वह मूलतः हिंदी भाषा, नागरी लिपि और हिंदी साहित्य के विकास पर ही केंद्रित रही हैं। सभा के नियमानुसार हिंदी भाषा और नागरी लिपि के अलावा धार्मिक विषयों पर कोई बहस नहीं होती थी, साथ ही पत्रिका में भी धार्मिक विषय पर कोई लेख प्रकाशित नहीं होता था। लेकिन इतना जरूर है कि विभिन्न विषयों पर लिखे गए लेखों में प्राचीन धार्मिक पुस्तकों, मान्यताओं आदि के उल्लेख मिलते हैं फिर भी इनका तेवर सांप्रदायिक नहीं लगता। अतः उन्नीसवीं सदी के हिंदी आंदोलन की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को उसके सांप्रदायिक चरित्र से तथा सभा के चरित्र के मध्य अंतर को समझ कर ही हम सभा की भाषा -नीति को ज्यादा अच्छे से समझ सकते हैं।

संदर्भ-संकेत

1. तद्भव, विशेष प्रस्तुति, मुस्लिम नवजागरण की मशाल सर सैय्यद अहमद खां, वीरेन्द्र कुमार बरनवाल, जनवरी-2013, संपादक- अखिलेश, इंदिरा नगर, लखनऊ, पृष्ठ-22.

2. उपर्युक्त, पृष्ठ-22.

3. हुसैन, हाली, मौलाना अल्ताफ; हयाते-जावेद (सर सैय्यद अहमद खां), पृष्ठ-117.

4. सिंह, कृपाशंकर; इतिहास का सच और हिंदी-उर्दू तथा दक्खिनी-हिंदी, पृष्ठ-107.

5. उपर्युक्त, पृष्ठ-108.

6. उपर्युक्त, पृष्ठ-108.

7. तद्भव, विशेष प्रस्तुति, मुस्लिम नवजागरण की मशाल सर सैय्यद अहमद खां, वीरेन्द्र कुमार बरनवाल, जनवरी-2013, संपादक- अखिलेश, इंदिरा नगर, लखनऊ, पृष्ठ-24-25.

8. तलवार, वीरभारत; हिंदी नवजागरण के अग्रदूत, राजा शिवप्रसाद

'सितारेहिंद', प्रतिनिधि संकलन, संपादक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, पहली आवृत्ति : 2005, भूमिका, पृष्ठ-20.

9. राय, गोपाल, सांकृत सत्यकेतु; उन्नीसवीं शताब्दी का हिंदी साहित्य; वाणी प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2015, पृष्ठ-123.

10. उपर्युक्त, पृष्ठ-123.

11. उपर्युक्त, पृष्ठ-124.

12. तलवार, वीरभारत; हिंदी नवजागरण के अग्रदूत, राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद', प्रतिनिधि संकलन, संपादक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, पहली आवृत्ति : 2005, पृष्ठ-21.

13. उपर्युक्त, पृष्ठ-22.

14. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र; हिंदी साहित्य का इतिहास, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर, संस्करण : 2009, पृष्ठ-316.

15. तलवार, वीरभारत; हिंदी नवजागरण के अग्रदूत, राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद', प्रतिनिधि संकलन, संपादक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, पहली आवृत्ति : 2005, पृष्ठ-23.

16. राय, गोपाल, सांकृत सत्यकेतु; उन्नीसवीं शताब्दी का हिंदी साहित्य; वाणी

प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2015, पृष्ठ-126.

17. तलवार, वीरभारत; हिंदी नवजागरण के अग्रदूत, राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद', प्रतिनिधि संकलन, संपादक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, पहली आवृत्ति : 2005, भूमिका, पृष्ठ-17.

18. उपर्युक्त, पृष्ठ-17.

19. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र; हिंदी साहित्य का इतिहास, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर, संस्करण : 2009, पृष्ठ-311.

20. वाष्णेय, लक्ष्मीसागर, आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ-307.

21. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र; हिंदी साहित्य का इतिहास, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर, संस्करण : 2009, पृष्ठ-311.

22. हरिऔध, अयोध्या सिंह उपाध्याय, हिंदी भाषा और साहित्य का इतिहास, पृष्ठ-18.

23. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र; हिंदी साहित्य का इतिहास, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर, संस्करण : 2009, पृष्ठ-317.

24. गौतम, प्रेम प्रकाश; हिंदी गद्य का विकास, पृष्ठ-36.

25. तलवार, वीरभारत; हिंदी नवजागरण के अग्रदूत, राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद', प्रतिनिधि संकलन, संपादक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, पहली आवृत्ति : 2005, भूमिका, पृष्ठ-14-15.

26. उपर्युक्त, पृष्ठ-15.

27. उपर्युक्त, पृष्ठ-19.

28. उपर्युक्त, पृष्ठ-19.

29. शुक्ल, आचार्य रामचन्द्र; हिंदी साहित्य का इतिहास; मलिक एण्ड कम्पनी, संस्करण : 2009, पृष्ठ-318.

30. सिंह, राजा लक्ष्मण, शकुन्तला, पृष्ठ-7.

31. वेदालंकार, डॉ. शारदा; प्रारंभिक हिंदी गद्य का स्वरूप, पृष्ठ-55.

32. राही, डॉ. ओंकार, खड़ी बोली, पृष्ठ-162-63.

33. शुक्ल, केशरी नारायण; भारतेंदु के निबंध; सरस्वती मंदिर, बनारस, सं. 2008 वि.; पृष्ठ-64.

34. उपर्युक्त; पृष्ठ-64.

35. दास, ब्रजरत्न; संपादक, भारतेन्दु ग्रंथावली, तीसरा भाग, नागरी प्रचारिणी सभा; 2010 वि. पृष्ठ-935.

36. प्रेमघन, बद्रीनारायण चौधरी; प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग, हिंदी साहित्य सम्मलेन, प्रयाग, पृष्ठ-54.

37. भट्ट, डॉ. मधुकर, पं. बालकृष्ण : व्यक्तित्त्व और कृतित्त्व; पृष्ठ-356.

38. लोढ़ा, कल्याणमल्ल, शास्त्री, विष्णुकांत, संपादन; बालमुकुन्द गुप्त : एक मूल्यांकन; पृष्ठ-109.

39. उपर्युक्त; पृष्ठ-110.

40. सब आर्य और आयं सभासदों को संस्कृत और आर्यभाषा जाननी चाहिए; उपनियम सं-35.

41. सुमन, क्षेमचन्द्र; हिंदी साहित्य को आर्य समाज की देन; पृष्ठ-16.

42. डॉ. रामप्रकाश; सत्यार्थ प्रकाश-विमर्श; भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास, शिमला, प्रथम संस्करण : अगस्त, 2004, पृष्ठ-121.

43. गुप्त, डॉ. लक्ष्मीनारायण; हिंदी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन; पृष्ठ-12.

44. प्रभाकर, विष्णु; भारतीय साहित्य के निर्माता; स्वामी दयानन्द सरस्वती; साहित्य अकादमी, दिल्ली; पुनर्मुद्रण संस्करण : 2005, पृष्ठ-76.

45. उपर्युक्त; पृष्ठ-76.

46. सं० भगवद्दत्त ; महर्षि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन; पृ-355 व् 378.

47. हिंदी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन, पृ-68 पर उद्धृत प्रसिद्ध इतिहासकार गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के लेख से.

48. प्रभाकर, विष्णु; भारतीय साहित्य के निर्माता; स्वामी दयानन्द सरस्वती; साहित्य अकादमी, दिल्ली; पुनर्मुद्रण संस्करण : 2005, पृष्ठ-80.

49. उपर्युक्त; पृष्ठ-80.

50. उपर्युक्त; पृष्ठ-80.

51. सोनवणे, डॉ. चन्द्रभानु; हिंदी गद्य साहित्य; पृ-78-79.

52. तिवारी, रामचन्द्र; हिंदी गद्य साहित्य, पृ- 80

53. प्रभाकर, विष्णु; भारतीय साहित्य के निर्माता; स्वामी दयानन्द सरस्वती; साहित्य अकादमी, दिल्ली; पुनर्मुद्रण संस्करण : 2005, पृष्ठ-99.

54. युधिष्ठिर, मीमांसक, संपादक, ऋषि दयानंद सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, भाग-2, पृष्ठ-672.

55. प्रभाकर, विष्णु; भारतीय साहित्य के निर्माता; स्वामी दयानन्द सरस्वती;

साहित्य अकादमी, दिल्ली; पुनर्मुद्रण संस्करण : 2005, पृष्ठ-74.

56. गुप्त, डॉ. लक्ष्मीनारायण; हिंदी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन, पृ-51.

57. गुप्त, डॉ. लक्ष्मीनारायण; हिंदी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन, पृ-14.

58. तिवारी, रामचन्द्र; हिंदी गद्य साहित्य, पृ-77.

59. चंद्रधर शर्मा गुलेरी : प्रतिनिधि संकलन, पृष्ठ संख्या- 138-139.

60. किंग, द नागरी प्रचारिणी सभा ऑफ़ बनारस, 1893-1914, (शोध-प्रबंध), पृष्ठ संख्या- 311 पर उद्धरित.

61. आचर्य रामचंद्र शुक्ल ग्रंथावली-4, पृष्ठ संख्या-56.

62. मेरी आत्म कहानी, पृष्ठ संख्या-241.

63. हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ संख्या-278.

64. हिंदी शब्दानुशासन, लेखक का निवेदन, पृष्ठ संख्या-35.

65. वन लैंग्वेज टू स्क्रिप्टस, पृष्ठ संख्या- 148 पर उद्धृत.

66. कलीमुद्दीन अहमद, उर्दू कविता पर एक दृष्टि, प्रस्तावना, पृष्ठ संख्या-70.

67. मेरी आत्म कहानी, पृष्ठ संख्या-63.

68. वही, पृष्ठ संख्या-67-68.

69. वही, पृष्ठ संख्या- 72.

70. भाषा और समाज, पृष्ठ संख्य-191-92.

71. वही, भूमिका, पृष्ठ संख्या- 11.

72. मेरी आत्म कहानी, पृष्ठ संख्या-242.

अध्याय : तीन

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हिंदी भाषा संबंधी विवाद

1800 ई. में लॉर्ड वेलेजली ने कलकत्ता में फ़ोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की, जिसका उद्देश्य यूरोप से भारत में आने वाले अंग्रेज अधिकारियों को भारतीय भाषाएँ सिखाना था। जिस समय अंग्रेजों ने हिंदुस्तान में अपनी सत्ता कायम की उस समय यहाँ की राजभाषा फारसी थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी की सरकार ने 1837 ई. तक फ़ारसी को राजभाषा बनाए रखा।

3.1 हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी का विवाद और हिंदी आंदोलन

ईस्ट इंडिया कम्पनी ने 1757 ई. के बाद भारत की शासन व्यवस्था में सीधी भागीदारी की। इस समय भारत की अर्द्धविकसित भाषाएँ अंग्रेजों के लिए उपहास की वस्तु थी। अंग्रेजों द्वारा भारत की शासन व्यवस्था को संभालने के समय फ़ारसी भाषा का संबंध उन थोड़े से लोगों के बीच रह गया था जिनका संबंध राजदरबारों और सरकारी दफ्तरों से था। शेष जनता हिंदुस्तानी भाषा बोलती थी। सत्ता के बदलने से अब परिस्थितियाँ भी बदल गयी थी। अब न शासक फ़ारसी जानते थें और न ही शासित। धीरे-धीरे शासन का झुकाव देशी भाषाओं की तरफ हुआ। अंग्रेजों ने जिस देशी भाषा को प्रश्रय दिया वह हिंदुस्तानी थी - खड़ी बोली हिंदी का अरबी - फ़ारसीमय रूप। इस समय हिंदुस्तानी का प्रयोग दो अर्थों में होता था। पहला, शास्त्रीय अर्थ में और दूसरा, व्यावहारिक अर्थ में। शास्त्रीय अर्थ में हिंदुस्तानी से तात्पर्य ऐसी

भाषा से था, जिसमें ठेठ देसी शब्दों का अत्यधिक प्रयोग होता था और जो न तो शुद्ध संस्कृत की शब्दावली से भरी रहती थी और न ही अरबी-फारसी के शब्दों से लदी हुई। हिंदी और उर्दू इसी मूल हिंदुस्तानी के दो साहित्यिक रूप थें और हैं। व्यावहारिक अर्थ में हिंदुस्तानी उस भाषा का नाम था जिसका मूलाधार तो मूल हिंदुस्तानी था, लेकिन उसमें अरबी - फ़ारसी के शब्दों का अत्यधिक प्रयोग होता था और जो फ़ारसी लिपि में लिखी जाती थी। 1757 ई. से 1837 ई. तक हिंदुस्तानी शब्द का उपर्युक्त दोनों अर्थों में प्रयोग हुआ है।

ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपनी भाषा नीति में हिंदुस्तानी को उसके व्यावहारिक अर्थ में स्वीकार किया। यानी ईस्ट इंडिया कम्पनी उस समय जिसे हिंदुस्तानी कहती थी उसे आज हम उर्दू कहते हैं। कम्पनी ने इसी हिंदुस्तानी को प्रश्रय दिया, जो धीरे-धीरे फारसी का स्थान ग्रहण करती जा रही थी। इसके बाद मूल हिंदुस्तानी या मूल हिंदुस्तानी का वह रूप जो बहुसंख्यक अवाम में प्रचलित था, कम्पनी सरकार ने इसे नजरंदाज कर दिया।

उन्नीसवीं सदी के उतरार्द्ध में हिंदी भाषा संबंधी विवाद का नया दौर शुरू होता है 1854 ई. के बाद से भारत के तत्कालीन गवर्नर-जनरल लॉर्ड डलहौजी ने शिक्षा संबंधी सुधारों के लिए वुड डिस्पैच की अनुशंसा को लागू किया।1854 ई. में वुड डिस्पैच(चार्ल्स वुड) में इस बात को सुनिश्चित किया गया था कि शिक्षा का माध्यम देशी भाषा होना चाहिए, साथ ही देशी भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन की भी शुरुआत की गयी। इस समय हिंदुस्तान के मुस्लिम नेतृत्व ने इस बात पर जोर दिया कि हिंदी

की शिक्षा को कोई सरकारी स्थान न मिले। सर सैयद अहमद खान के साथ-साथ गार्सा-द-तासी नें भी हिंदी का बहिष्कार करते हुए उर्दू का जोरदार समर्थन किया था।

1868 ई. में राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' ने युक्त प्रांत की सरकार को एक मैमोरेंडम (ज्ञापन)- **"मैमोरेंडम : कोर्ट कैरेक्टर इन दी अपर प्रोविसेज ऑफ इंडिया"** दिया। इस ज्ञापन में अन्य मांगों के साथ - साथ मुख्य रूप से अदालतों और सरकारी दफ्तरों में फ़ारसी की जगह नागरी लिपि लागू करने की मांग की गयी थी। इससे पूर्व अदालतों में फ़ारसी भाषा और लिपि का प्रयोग किया जाता था, यद्यपि कम्पनी सरकार ने 1837 ई. में फ़ारसी भाषा को राजभाषा के तौर पर प्रयोग बंद करने का आदेश जारी कर दिया था तथापि आगे भी अदालतों में फारसी लिपि ही चलती रही।

इसलिए 1868 ई. में संयुक्त प्रांत के राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिंद' ने ब्रिटिश सरकार को मैमोरेंडम देकर यह मांग की थी कि जिस तरह अदालतों से फारसी भाषा हटाई गई थी उसी प्रकार अब फारसी लिपि की जगह नागरी लिपि लागू की जाए। किंतु सरकार ने इस मांग पर कोई ध्यान नहीं दिया और इस दिशा में किसी भी तरह की कार्रवाई नहीं की गयी। शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' के मैमोरेंडम से हिंदी आंदोलन की शुरुआत मानी जाती हैं, जो आगे चलकर एक विराट आंदोलन के रूप में सामने आती है।

ब्रिटिश शासकों द्वारा आरंभ से ही हिंदी को नजरंदाज करने का काम किया था। पश्चिमोत्तर प्रांत के प्रथम सर्किल के ऑफिशिएटिंग इंस्पेक्टर एम० एस० हॉवेल ने 28

नवम्बर, 1868 ई. को सरकारी दफ्तरों और शिक्षा के क्षेत्र में उर्दू के साथ हिंदी के प्रचलन का विरोध किया था। उनके मत में दो प्रतिद्वंदी देशी भाषाओं का विकास देश के बौद्धिक विकास के लिए बाधक है। इसके अलावा व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी उन्होंने उर्दू को ही अधिक उपयुक्त माना। इस बीच हिंदी आंदोलन का लगातार विस्तार हो रहा था। हिंदी आंदोलन न सिर्फ पश्चिमोत्तर प्रांत में बल्कि मध्य प्रांत, पंजाब, दिल्ली और बिहार में भी फैल रहा था। मध्य प्रांत में उर्दू भाषियों की संख्या पश्चिमोत्तर प्रांत की तुलना में काफी कम थी। हिंदी आंदोलन के बढ़ते दबाव के कारण 1872 ई. में ब्रिटिश सरकार को मध्य प्रांत में हिंदी समर्थकों की मांग को स्वीकार करना पड़ा। "मध्य प्रांत में 1872 ई. में दीवानी अदालतों की सभी कार्यवाहियों और नोटिसों को हिंदी में जारी किए जाने के आदेश दिए गए और याचिकाएँ, जमानत - पत्र आदि नागरी लिपि में प्रस्तुत किए जाने की अनुमति भी दी गयी। जहाँ रोमन, फ़ारसी या अन्य किसी लिपि की हिंदी (नागरी) लिपि से अधिक लोकप्रियता हो वहाँ हिंदी लिपि के प्रयोग की आवश्यकता नहीं थी।"[1]

पश्चिमोत्तर प्रांत में भी शिक्षा के संदर्भ में माध्यम रूप में हिंदी की मांग पुरजोर तरीके से उठायी जाने लगी थी। ब्रिटिश सरकार पर अब भारी जन दबाव बन रहा था कि वे अधिसंख्य हिंदी भाषियों के हिंदी माध्यम में शिक्षा प्रदान करने की मांग को स्वीकार करें। इसके साथ ही हिंदी भाषियों द्वारा प्रशासनिक कार्यों में भी हिंदी को उर्दू के समतुल्य स्थान देने की मांग की गयी। गौरतलब है कि अदालती एवं कार्यालयी भाषा के संदर्भ में हिंदी को उर्दू के समकक्ष स्थान देने की मांग का एक आर्थिक पहलू

था। अपनी भाषा के पर्याप्त ज्ञान के बावजूद अपने लिए आजीविका की तलाश न कर पाने की कुंठा ने हिंदी भाषियों को उर्दू के खिलाफ कर दिया था। हिंदी-उर्दू विवाद का यह आर्थिक पक्ष था जो दोनों वर्गों के बीच मजबूत दीवार बन कर आ खड़ी हुई थी।

1874 ई. में बिजनौर और नजीबाबाद के शिक्षित नागरिकों ने तत्कालीन लेफ्टिनेंट गवर्नर सर विलियम म्यूर के समक्ष दो ज्ञापन प्रस्तुत किया। इस ज्ञापन में उर्दू भाषा और फ़ारसी लिपि के स्थान पर अदालतों और सरकारी कार्यालयों में हिंदी भाषा और नागरी लिपि को लागू करने की मांग की गयी थी। लेफ्टिनेंट गवर्नर की ओर से इन नागरिकों को यह आश्वासन दिया गया कि जब भी इस विषय में कोई निर्णय लिया जाएगा तो उनके द्वारा उठायी गयी बातों को ध्यान में रखा जाएगा।[2]

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हिंदी भाषा संबंधी विवाद के दो अलग-अलग समूह दिखायी पड़ते हैं पहला समूह मुस्लिम नेतृत्व का है और दूसरा समूह हिंदू नेतृत्व का। मुसलमानों के नेता सर सैयद अहमद खान भाषा विवाद को भाषा विज्ञान या भाषा भाषियों की संख्या के आधार पर नहीं सुलझाना चाहते थें। उन्हें यह ज्ञात था कि संयुक्त प्रांत के लगभग 70 प्रतिशत लोग हिंदी की ही विभिन्न बोलियाँ बोलते हैं। ब्रिटिश सरकार भी इस भाषा विवाद को सुलझाने के लिए लोक सर्वेक्षण जैसे लोकतांत्रिक पद्धति का उपयोग नहीं करना चाहती थी। दरअसल, भारत में स्थापित ब्रिटिश शासन के सरकारी अधिकारी जिनमें से कई भाषा विवाद के गहरे जानकार थें, वे भी इसे राजनीति से अलग करके नहीं देखना चाहते थें। उर्दू के विस्थापन और हिंदी की प्रतिष्ठा से अपना उर्दू और हिंदी को समान महत्व दिए जाने से जो राजनीतिक

समस्या उठ खड़ी होती, उसका स्पष्ट निर्देश बीम्स ने दिया।[3] उन्नीसवीं सदी के सातवें-आठवें दशक तक आते - आते स्थिति ऐसी बन चुकी थी कि जिसमें वैसे हिंदी भाषियों, जो उर्दू नहीं जानते थें, इनकी कठिनाईयों की आवाज ब्रिटिश शासकों तक पहुचनी शुरू हो गई थी। हालांकि तब भी पश्चिमोत्तर प्रांत, दिल्ली और पंजाब आदि क्षेत्रों में हिंदी की स्थिति दोयम दर्जे की ही रही। हिंदी को न तो प्रतिष्ठित ही किया गया और न ही उसे उर्दू के समकक्ष लाने का कोई सार्थक प्रयास किया गया। परिणामस्वरूप हिंदी भाषी जनता अब अपने हक के लिए संघर्ष करने को प्रतिबद्ध थी। इस समय तक आकर हिंदी की मांग 'हिंदी आंदोलन' का स्वरूप ग्रहण कर चुकी थी।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भाषा विवाद का मुख्य क्षेत्र पश्चिमोत्तर प्रांत था, किंतु यहाँ भी ब्रिटिश सरकार की ढुलमुल नीति जारी थी। 1874 ई. में 'डायरेक्टर ऑफ पब्लिक इंस्ट्रक्शन' की शिक्षा प्रगति की वार्षिक रिपार्ट में हिंदी का जोरदार समर्थन किया गया था। इसी आधार पर 13 जून, 1876 ई. को ब्रिटिश सरकार ने सरकारी कार्यालयों में हिंदी में कार्य किये जाने का एक परिपत्र (सर्कुलर) जारी किया। यहाँ गौर करने वाली बात यह है कि सरकार ने उर्दू को हटाए जाने की मांग को पूर्णत: अस्वीकार कर दिया था, किंतु कहीं न कहीं वे भी उसके सरलीकरण की जरूरत महसूस कर रहे थें।[4] हालांकि अगले ही वर्ष ब्रिटिश सरकार उर्दू पक्षकारों की मांग के सामने आत्मसमर्पण करती नजर आयी। 16 जुलाई, 1877 ई. को सरकार द्वारा एक आदेश

जारी किया गया, जिसके अनुसार किसी भारतीय व्यक्ति को दस रुपये महीने से अधिक की नौकरी तब तक नहीं मिल सकती थी जबतक की उसने मिडिल स्कूल की परीक्षा उर्दू दीगर जबान के रूप में पास न की हो।[5]

इससे स्पष्ट होता है कि 1857 ई. के विद्रोह के बाद कुछ समय के लिए ब्रिटिश सरकार मुसलमानों से नाराज जरूर थी, लेकिन यह नाराजगी अल्पकालिक थी। ब्रिटिश सरकार अब फिर से मुसलमानों का समर्थन प्राप्त करना चाहती थी। इस समय भारत का गवर्नर जनरल तथा वायसराय लॉर्ड लिटन था। लॉर्ड लिटन को हिंदी समाचार पत्रों में राजद्रोह का स्वर सुनाई पड़ता था। इसलिए उसने 1878 ई. में वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट पारित कर देशी भाषाओं में प्रकाशित होने वाले भारतीय समाचार पत्रों पर कठोर प्रतिबंध लागू किया था। आगे चलकर लिटन के कार्यकाल की समाप्ति के बाद भाषा नीति में पुन: परिवर्तन दिखाई देता है। ब्रिटेन में लिब्रल पार्टी की सरकार बनने के बाद बंगाल के लेफ्टिनेंट गवर्नर एशले ने जनवरी, 1880 ई. में आदेश जारी किया कि हिंदी भाषी क्षेत्रों के सरकारी कार्य हिंदी में ही होंगे, साथ ही, 01 जनवरी, 1881 ई. तक पुलिस अधिकारियों को हिंदी सीख लेना अनिवार्य कर दिया गया।[6]

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी के विवाद के संदर्भ में गठित शिक्षा आयोग (हंटर आयोग) का विशेष महत्व है। ब्रिटिश सरकार ने वुड डिस्पैच 1854 ई. के बाद शिक्षा के क्षेत्र में हुई प्रगति व प्रयासों का मूल्यांकन करने हेतु

इसका गठन किया था। हंटर आयोग का कार्य क्षेत्र अत्यंत विस्तृत एवं विविध था, जिसमें से सर्वाधिक प्रमुख कार्य भाषा विवाद का परिक्षण करके उसपर अपना निर्णय देना था।

हालांकि शिक्षा आयोग ने हिंदी के महत्व को स्वीकार करने के बावजूद हिंदी - उर्दू भाषा विवाद में उलझने से स्वंय को निरंतर बचाए रखा। इस आयोग के अध्यक्ष हंटर ने यह स्वीकार किया था कि 'भारतीय भाषाओं में गरिमा और क्षमता के दृष्टिकोण से संभवतः हिंदी का सर्वोच्च स्थान है।' शिक्षा आयोग ने पश्चिमोत्तर प्रांत के हिंदी उर्दू विवाद के संबंध में किसी भी तरह के नीतिगत परिवर्तन की सिफारिश नहीं की। भाषा विवाद पर केंद्रित अपने विस्तृत परिक्षण के बाद भी हंटर आयोग ने इस विषय में यथास्थिति को ही बनाए रखा।

उन्नीसवीं सदी के उतरार्द्ध में हिंदी उर्दू विवाद की निर्णायक घड़ी का इतिहास इसके आखिरी दो दशकों में मिलता है। 1885 ई. में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना होती है। कांग्रेस की स्थापना से हिंदी आंदोलन को नया बल मिलता है। कांग्रेस के लगभग सभी बड़े नेता हिंदी के पक्षधर थें। हिंदी आंदोलन को आगे बढ़ाने में मदन मोहन मालवीय ने विशेष भूमिका निभाई। इस समय एंटोनी मैक्डोनेल की नियुक्ति पश्चिमोत्तर प्रांत में लेफ्टिनेंट गवर्नर के पद पर होती है। मैक्डोनेल पश्चिमोत्तर प्रांत के लेफ्टिनेंट गवर्नर का पद ग्रहण करने से पूर्व मध्य प्रांत और बिहार में वरिष्ठ अधिकारी के रूप में हिंदी भाषा और नागरी लिपि को अदालतों और सरकारी कार्यालयों में लागू करवाने के लिए अथक प्रयास किए थें। इसलिए मैक्डोनेल की पहचान हिंदी समर्थक ब्रिटिश अधिकारी के रूप में स्थापित हो चुकी थी।

1897 ई. में मदन मोहन मालवीय ने अदालतों में नागरी लिपि के प्रचलन की मांग के संबंध में एक ज्ञापन लेफ्टिनेंट गवर्नर मैक्डोनेल के समक्ष प्रस्तुत किया। मार्च, 1898 ई. में इलाहाबाद में एक प्रतिनिधि मंडल लेफ्टिनेंट गवर्नर और अवध के चीफ कमिश्नर से मिला और प्रांत की अदालतों तथा सरकारी कार्यालयों में नागरी लिपि के प्रचलन की मांग के संबंध में एक आवेदन पत्र दिया। यहाँ ध्यान देने की जरूरत है कि इस आवेदन पत्र में फारसी लिपि को हटाने की कोई मांग नहीं की गयी थी, सिर्फ फारसी लिपि के साथ-साथ नागरी लिपि को प्रचलित करने की मांग की गयी थी। 'पश्चिमोत्तर प्रांत और अवध के नागरिकों के प्रतिनिधि मंडल द्वारा हस्ताक्षरित इस आवेदन पत्र में नागरी के प्रचलन से होने वाली सुविधाओं का उल्लेख किया गया था, साथ ही फ़ारसी लिपि के प्रचलन के कारण फारसी लिपि न पढ़ सकने वाले बहुसंख्यक आबादी के दैनंदिन कठिनाइयों का भी विस्तार से उल्लेख किया गया था। इसके अलावा प्राथमिक शिक्षा के विकास में भी हिंदी भाषियों को उर्दू और फारसी लिपि के प्रयोग से होने वाली बाधाओं का भी उल्लेख किया गया था।[7]

यद्यपि हिंदी भाषा और नागरी लिपि के प्रचलन से संबंधित आवेदन, मैमोरेंडम, ज्ञापन, स्मारक यन्त्र आदि ब्रिटिश शासकों के समक्ष प्रस्तुत करने का सिलसिला राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद' 'मैमोरंडम' (1868 ई.) से ही चला आ रहा था, तथापि ब्रिटिश सरकार द्वारा इन्हें विचारार्थ स्वीकार करने के अलावा अन्य कोई कारवाई नहीं की गयी थी। पहली बार 1897 ई. और 1898 ई. में दिए गए ज्ञापन पर सहानुभूतिपूर्वक

विचार किया गया।

लेफ्टिनेंट गवर्नर मैक्डोनेल की दृष्टि में हिंदी-उर्दू का विवाद केवल भाषायी विवाद नहीं था, मूलतः यह व्यवस्था में भागीदारी से जुड़ा सवाल था। उर्दू भाषा और फारसी लिपि आमतौर पर मुसलमानों की भाषा-लिपि थी। सरकारी नौकरियों में उर्दू के प्रभुत्व के कारण मुसलमानों का प्रतिशत उनके जनसंख्या के प्रतिशत की तुलना में अधिक था। ऐसी स्थिति में यदि हिंदी का प्रवेश होता तो यह मुसलमानों के लिए हानिकारक होता मुसलमानों को हिंदी भाषियों की कठिनाइयों से कोई सरोकार नहीं था। वह किसी भी प्रकार के परिवर्तन, जो सरकारी नौकरियों में उनकी बेहतर संभावनाओं की समाप्ति का कारण बनता, उन्हें सरकारी नौकरी प्राप्त करने के लिए हिंदी सीखने पर विवश करता। वह इसके सर्वथा विरूद्ध थें।

उन्नीसवीं सदी के अंतिम दशक के भाषा विवाद में तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड कर्जन ने हिंदी के पक्ष में निर्णायक भूमिका निभायी थी। कर्जन एकमात्र ऐसा वायसराय था जिसने हिंदी के महत्व को समझा। मैक्डोनेल ने प्रशासनिक कारणों से हिंदी में याचिका प्रस्तुत करने की अनुमति दिए जाने और सरकारी आदेशों का हिंदी में अनुवाद किए जाने का प्रस्ताव रखा तो लॉर्ड कर्जन ने प्रस्ताव का अनुमोदन किया और उसे इस बात के लिए अधिकृत किया कि वह मुसलमानों के विरोध को नजरंदाज कर सके।[8]

इस तरह लम्बी बहस परस्पर विरोध और समर्थन के लिए किए गये आंदोलनों

के बीच मैक्डोनेल ने लॉर्ड कर्जन की सहमति से हिंदी के व्यापक प्रचलन की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाया। 18 अप्रैल, 1900 ई. को ऐतिहासिक 'हिंदी' रिजोल्यूशन पारित हुआ। अब नागरिकों को अदालतों तथा सरकारी कार्यालयों में नागरी लिपि में याचिका प्रस्तुत करने का अधिकार दिया गया। इस तरह फ़ारसी लिपि और नागरी लिपि को न्याय और प्रशासन में एक समान महत्त्व दिए जाने की दिशा में यह युगांतरकारी प्रयास था।

हिंदी रिजोल्यूशन के पारित होने का परिणाम यह हुआ कि मैक्डोनेल को उर्दू विरोधी समझा जाने लगा। मैक्डोनेल ने बार-बार यह घोषित किया कि वह उर्दू विरोधी नहीं है और हिंदी भाषियों को उनका अधिकार दिया जाना उर्दू भाषियों के अधिकारों का हनन नहीं है। हालांकि हिंदी रिजोल्यूशन के खिलाफ मुसलमानों के आक्रोश का लॉर्ड कर्जन पर कोई खास असर नहीं पड़ा। कर्जन की दृष्टि में उर्दू भाषा और फ़ारसी कें सरकारी कामकाज में एकाधिकार की मांग एक अनधिकार चेष्टा थी।

01 जून, 1900 ई. को मैक्डोनेल को कर्जन ने लिखा कि " मुसलमानों की चिल्लाहट महज उन अल्पसंख्यकों की झुंझलाहट है, जिनके हाथों से सत्ता की डोर फिसली जा रही है और जो इसे किसी भी तरीके से जोर-जबर्दस्ती पकड़े रहना चाहते हैं।"[9]

हिंदी रिजोल्यूशन के विरोध में मुसलमानों ने राजनैतिक आंदोलन का रास्ता अख्तियार कर लिया। लखनऊ में उर्दू डिफेन्स एसोसिएशन' की स्थापना की गयी और 18 अगस्त, 1900 ई. को हिंदी रिजोल्यूशन के विरोध में जनसभा का आयोजन किया

गया। इस हिंदी विरोधी आंदोलन में अलीगढ़ कॉलेज (वर्तमान नाम अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय) के सचिव नवाब मुहसिन-उल-मुल्क की प्रमुख भूमिका थी। हालांकि मैक्डोनेल ने अलीगढ़ कॉलेज को दिये जाने वाले सरकारी अनुदान को बंद करवा देने की धमकी देकर उसे आंदोलन से हट जाने के लिए बाध्य कर दिया। 'उर्दू डिफेन्स एसोसिएशन' एवं अन्य मुस्लिम राजनैतिक संगठनों की शक्ति कम करने के लिए सरकार ने हर संभव प्रयास किया।

भारतीय इतिहास, विशेषकर हिंदी प्रदेशों में बीसवीं शताब्दी की शुरूआत एक ऐसे विवाद के साथ हुई जिसके नतीजे अंततः भारत विभाजन के लिए उत्तरदायी हुए। सर सैयद अहमद खान, मौलाना सफीर और मोहम्मद शिरिन जैसे मुस्लिम नेताओं ने उर्दू के साथ मुसलमानों के रिश्तों पर जोर दिया और इस तरह की कोशिशों से भारत में उर्दू मुसलमानों की अस्मिता के एक अभिन्न अंग के रूप में तब्दील हो गयी। उर्दू आंदोलन के प्रमुख नेता मोहम्मद हक का कहना था कि 'उर्दू केवल मुसलमानों की नहीं है, बल्कि यह हिंदुओं और मुसलमानों की साझी भाषा है, जिसका जन्म इन सभी के भारत विभाजन के बाद सांस्कृतिक सम्मिश्रण से हुआ है। भारत विभाजन के बाद मोहम्मद हक का कहना था 'पाकिस्तान को न तो जिन्ना ने जन्म दिया है, न ही इसका जन्म इकबाल के कारण ही हुआ। यह केवल उर्दू थी जिसके कारण पाकिस्तान का जन्म हुआ।[10]

बहरहाल, हिंदी रिजोल्यूशन से हिंदी आंदोलन को बहुत लाभ पहुँचा। हिंदी

आंदोलन अपने लक्ष्यों को पाने में बहुत हद तक सफल रहा। अनेक भारतीय रियासतों ने अपने यहाँ हिंदी को ही राजकाज की भाषा बना दिया। इनमें बनारस और अयोध्या के राजाओं का निर्णय उल्लेखनीय है। परिणामतः धीरे-धीरे सरकारी सेवाओं में उर्दू का ज्ञान, वैकल्पिक कर दिया गया। धीरे-धीरे उर्दू का प्रभुत्व हिंदी भाषी क्षेत्रों में कम होता गया। इससे हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में विकसित होने में मदद मिली।

3.2 अयोध्या प्रसाद खत्री और खड़ी बोली का आंदोलन

हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन में 1885 ई. से लेकर 1900 ई. तक का कालखंड हमेशा से उपेक्षित रहा है। हिंदी साहित्य के इतिहास में इसे समग्र तौर पर 'भारतेंदु युग' (1850 ई.-1900 ई.) नाम दिया गया है। हालांकि इसी दौर में अयोध्याप्रसाद खत्री ने खड़ी बोली का आंदोलन चलाया था। इस समय हिंदी साहित्य में एक विशेष किस्म का विभाजन चल रहा था। इस दौर के लेखक गद्य तो खड़ी बोली में लिखते थे, लेकिन पद्य ब्रज भाषा में। यह आश्चर्यजनक है कि इस समय के बड़े - बड़े साहित्यकार भी इस विभाजन को अतार्किक नहीं मानते थे, अपितु इसे बिल्कुल उचित और स्वाभाविक समझते थें। अयोध्या प्रसाद खत्री पहले ऐसे व्यक्ति थें जिन्होंने इस विभाजन के विरोधाभास की ओर ध्यान दिया और इससे हिंदी के साहित्यिक विकास में होने वाली बाधा को चिन्हित किया। उन्होंने इस विभाजन को चुनौती देते हुए इसका विरोध किया और गद्य व पद्य दोनों को खड़ी बोली हिंदी में लिखने की वकालत करते हुए अपने अकेले बूते पर एक आंदोलन खड़ा कर दिया।

अयोध्या प्रसाद खत्री द्वारा संकलित– संपादित पुस्तक 'खड़ी बोली का पद्य' (पहला भाग) का प्रकाशन 1887 ई. में हुआ। उन्होंने इसकी भूमिका में अपनी भाषा-दृष्टि के बारे में स्पष्ट लिखा है, "मैं भाषा छंद को हिंदी छंद नहीं मानता हूँ।... खड़ी बोली के व्याकरण में ब्रजभाषा छंद को जगह देना और ब्रजभाषा शब्दों को हिंदी में 'पोएटिक लाइसेंस' समझना– हिंदी व्याकरण की भूल है।"[11]

'खड़ी बोली का पद' - (पहला भाग) के प्रकाशन के बाद अयोध्या प्रसाद खत्री ने साहित्य सेवियों, साहित्य प्रेमियों, पत्र-पत्रिकाओं के संपादकों, शिक्षा विभाग के अधिकारियों आदि को अपनी पुस्तक मुफ्त में भेजी। इनके उत्तर में इस संकलन के लिए अनेक लोगों ने अयोध्या प्रसाद खत्री को पत्र भेजकर उनकी सराहना की। पत्र भेजने वालों में बनारस नॉर्मल स्कूल के हेडमास्टर जय नारायण मिश्र, बनारस के स्कूल इन्सपैक्टर लक्ष्मी शंकर मिश्र, मुजफ्फरपुर के स्कूल डिप्टी इंस्पेक्टर राम प्रकाश लाल, आरा के स्कूल डिप्टी इंस्पैक्टर परमानंद, दरभंगा के स्कूल डिप्टी इंस्पेक्टर गणेश प्रसाद और मुजफ्फरपुर जिला कें स्कूल अध्यापक शालिग्राम तिवारी आदि गणमान्य व्यक्ति थें। इन सबों ने 'खड़ी बोली का पद' को साहित्य के सामान्य पाठकों के साथ-साथ नॉर्मल स्कूल और वर्नाक्यूलर स्कूल के छात्रों व शिक्षकों के लिए उपयोगी बताया।

'खड़ी बोली का पद्य पुस्तक के प्रकाशन के बाद काव्य भाषा का प्रश्न एक महत्त्वपूर्ण मुद्दे के रूप में उभरा। इस पुस्तक का केंद्रीय विचार था– हिंदी

कविता की भाषा क्या हो : ब्रज भाषा अथवा खड़ी बोली ?

अयोध्या प्रसाद खत्री की पुस्तक 'खड़ी बोली का पद्य' के प्रकाशन से पहले भी खड़ी बोली हिंदी में कविताएँ लिखी जा रही थी, किंतु खड़ी बोली को कविता की एकमात्र भाषा मानने को लेकर पहली बार साहित्यिक आंदोलन की शुरुआत हुई। इससे पुरानी धारा के रचनाकार जो ब्रज भाषा कविता के हिमायती थे वे सभी अयोध्या प्रसाद खत्री और खड़ी बोली पद्य का आंदोलन के प्रबल विरोधी हो गए। इन विरोधियों में प्रमुख नाम हैं- राधा चरण गोस्वामी, प्रताप नारायण मिश्र और बाल कृष्ण भट्ट।

3.3 ब्रज भाषा और खड़ी बोली हिंदी का विवाद

अयोध्या प्रसाद खत्री ने अपनी पुस्तक 'खड़ी बोली का पद्य' में खड़ी बोली हिंदी की पांच शैलियों को सामने रखा -

1. ठेठ हिंदी
2. पंडित जी की हिंदी
3. मौलवी साहब की हिंदी
4. मुंशीजी की हिंदी
5. यूरोशियन हिंदी

अयोध्या प्रसाद खत्री ने प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका में ब्रज भाषा कविता को हिंदी कविता नहीं माना। परिणामस्वरूप ब्रज भाषा बनाम खड़ी बोली का विवाद खड़ा हो गया।

खड़ी बोली के विरोध में राधाचरण गोस्वामी ने 'हिंदोस्थान' समाचार पत्र के 11 नवंबर 1857 ई. के अंक में एक लंबा पत्र लिखा। उन्होंने खड़ी बोली पद्य का विरोध करते हुए ब्रजभाषा का जोरदार समर्थन किया था। इस पत्र के प्रकाशन के बाद खड़ी बोली समर्थक और ब्रजभाषा समर्थक दोनों समूहों के बीच भीषण वाक् युद्ध शुरू हो गया। अपने लेख में राधाचरण गोस्वामी ने खड़ी बोली के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिए-

1. खड़ी बोली ब्रज भाषा से भिन्न नहीं है बल्कि वह ब्रज, कान्यकुब्जी, शौरसेनी आदि कई भाषाओं के मिश्रण से बनी है। दोनों में केवल क्रिया का अंतर है।
2. खड़ी बोली में कवित्त, सवैया आदि हिंदी के उत्तम छंदों का प्रयोग नहीं हो सकता। इसमें उर्दू के वैत, शेर, गज़ल इत्यादि का ही प्रयोग संभव है।
3. खड़ी बोली में अच्छी कविता संभव नहीं है। दयानंदी, ईसाई मिशनरियों आदि ने खड़ी बोली पद्य का प्रारंभ किया है पर वह काव्य गुण से पूर्णतया वंचित है और रसिक समाज उसे डाकिनी समझता है।

राधाचरण गोस्वामी ने ब्रजभाषा के पक्ष में कुछ तर्क प्रस्तुत किए हैं-

1. चंद से लेकर शूर, तुलसी, बिहारी, देव, घनानंद सभी की रचनाएँ उत्तम ब्रज भाषा में हैं। इन्हें निकाल देने से हिंदी में कुछ न बचेगा।
2. ब्रज भाषा में लालित्य और सरसता है। यह सैकड़ों वर्षों से मजते– मजते साहित्य की भाषा हो चुकी है।
3. ब्रज भाषा मरी नहीं है यह गद्य और पद्म दोनों भाषा प्रचलन में है।

गोस्वामी जी के तर्क सर्वथा मान्य नहीं थें। अतः इसका उचित प्रतिकार हुआ, 20 दिसंबर, 1887 ई. के 'हिंदोस्थान' में श्रीधर पाठक ने इसका जबाब देते हुए लिखा है कि चंद से लेकर हरिश्चंद्र तक सम्पूर्ण काव्य ब्रज भाषा में नहीं है। हरिश्चंद्र को उद्धृत करते हुए उन्होंने कहा कि अकबर से पहले ब्रज भाषा नहीं थी। जायसी एवं चंद की कविता ब्रज भाषा मे नहीं है। यदि यह भी मान लिया जाए कि अब तक की सभी कविताएँ ब्रज भाषा में हैं तो भविष्य में भी वह उसी में रची जाएँ यह कहाँ तक उचित है ?

ब्रजभाषा को समझने वाले अब कम हो गये हैं। ब्रजभाषा विशेषतया पद्य की ब्रजभाषा बोल-चाल में कभी भी प्रचलित नहीं रही है। गद्य में उसका प्रयोग नहीं के बराबर है। 'हिंदोस्थान' के संपादक ने भी खड़ी बोली के पक्ष में ही अपना समर्थन दिया है। उनका कहना था कि “यह सर्वथा सत्य है कि जब संसार की सब भाषाओं में कविता हुई तो खड़ी बोली में क्यों नहीं हो सकती।”[12]

श्रीधर पाठक के उत्तर के प्रतिउत्तर में राधाचरण गोस्वामी ने 15 जनवरी,

1888 ई. के 'हिंदोस्थान' में लिखा कि पाठक जी के इस कथन का कोई आधार नहीं है कि ब्रज भाषा सीमित क्षेत्रों में बोली जाने वाली भाषा है। ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली हिंदी में कोई विशेष अंतर नहीं है। ब्रजभाषा में कुछ शब्द ऐसे अवश्य हैं जो क्लिष्ट हैं। कविता समझना आसान बात नहीं है। इसके लिए परंपरा और भाषा का ज्ञान जरूरी है। गद्य और पद्य की भाषा कभी एक नहीं हो सकती है। न बोलचाल की भाषा में सरलता आ सकती है। इसलिए खड़ीबोली कविता को मैंने डाकिनी कहा है। खड़ी बोली में कविता होगी तो कुछ दिनों में खालिस उर्दू का प्रचार हो जाएगा।

राधाचरण गोस्वामी के प्रश्नों का उत्तर देते हुए श्रीधर पाठक ने सप्रमाण खंडण किया है। श्रीधर पाठक के अनुसार ब्रजभाषा और खड़ी बोली को समझने के लिए भिन्न-भिन्न पद्धति का ज्ञान आवश्यक हैं। दोनों के व्याकरणिक नियम अलग-अलग हैं। जिन्हें ब्रजभाषा के प्रांतीय अंगों से सम्यक अभिज्ञता नहीं प्राप्त हैं वे उसके वाक्य को शीघ्रता या सुगमता से नहीं समझ सकते, परंतु खड़ी बोली की कविता इस कारण से कि उस बोली का प्रचार और विस्तार ब्रजभाषा की अपेक्षा अधिक है और यहाँ के शिक्षित समाज की वह मातृभाषा है, बिना बड़े प्रयास समझ में आ सकती है और विशेष समझे जाने के कारण विशेष लाभ पहुँचा सकती है।[13] ब्रजभाषा के कोमल होने के तर्क का उत्तर देते हुए श्रीधर पाठक ने लिखा कि खड़ी बोली पद्य का यह आरंभिक काल है। कवियों ने भलि-भांति अपनी शक्ति को इसपर परीक्षित नहीं किया है तो फिर कैसे कहा जा सकता है कि इसकी भाषा काव्योपयोगी नहीं है। दूसरी ओर ब्रजभाषा की कविता कई बातों में उन्नति की पराकाष्ठा से भी परे पहुंच चुकी है। अत: अब उसके विश्राम का समय आ गया है।[14]

श्रीधर पाठक का विवाद खत्म हुआ। राधाचरण गोस्वामी का विवाद खत्म हुआ। राधाचरण गोस्वामी का स्वर मंद पड़ते ही प्रताप नारायण मिश्र ने वाद- विवाद करना प्रारंभ किया " खड़ी बोली का पद्य' (पहला और दूसरा भाग) की समीक्षा करते हुए प्रताप नारायण मिश्र ने 'खड़ी बोली का पद्य' शीर्षक से एक लेख लिखा जो 15 फरवरी - मार्च, 1888 ई. के 'ब्राह्मण' पत्रिका के अंक में प्रकाशित हुआ। उन्होंने लिखा कि "लेखक महाशय की मनोगति तो सराहना के योग्य है किंतु साथ ही असंभव भी, क्योंकि जो कार्य भारतेंदु हरिश्चंद्र से न हुआ तो दूसरों का यत्न निष्फल होगा।"[15]

प्रताप नारायण मिश्र के विरोध का सबसे बड़ा कारण था कि अयोध्या प्रसाद खत्री ने भारतेंदु को खड़ी बोली का विरोधी कहा था। प्रताप नारायण मिश्र ने ब्रज भाषा को ईख की तरह मीठा बताया तथा खड़ी बोली को बास से उपमित किया तथा कहा कि कवियों को क्या पड़ी है कि किसी को समझाने के लिए अपनी बोली बिगाड़े।

प्रताप नारायण मिश्र का उत्तर 08 मार्च, 1888 ई. के 'हिंदोस्तान' में श्रीधर पाठक ने दिया। श्रीधर पाठक ने लिखा कि भारतेंदु ने ब्रजभाषा बोली की कविता बनाने पर श्रम नहीं किया, अन्यथा वे इसमें अच्छी कविता बना सकते थें। ब्रजभाषा की उपमा उन्होंने बूढ़ी नायिका से की तथा खड़ी बोली को वयःसंधि अवस्था में कहा। भारतेंदु ने कविता को भोंड़ी कहा था न कि भाषा को। कविता का दोष कवि की असमर्थता प्रकट करता है न कि भाषा की।[16]

खडी बोली पद्य के विरोधियों में बालकृष्ण भट्ट का नाम भी सुपरिचित है।

अपने पत्र 'हिंदी प्रदीप' के 01 अक्टूबर-दिसंबर, 1887 ई. के अंक में 'पुस्तक प्राप्ति' स्तंभ के अंतर्गत उन्होंने अपना मत व्यक्त किया है। बालकृष्ण भट्ट लिखते हैं, हम अपनी 'पद्यमयी' सरस्वती को किसी दूसरे ढंग पर उतार कर मैली और कलुषित नहीं करना चाहते। पद्य या कविता उसी का नाम है जिस मार्ग पर भूषण, मतिराम, पद्माकर तथा सूर, तुलसी, बिहारी प्रभृति महोदयगण चल चुके हैं क्योंकि रस और माधुर्य जो कविता का प्राण है वो इन खड़ी बोलियों में कभी आने वाला ही नहीं। पद्म में खड़ी बोली उस स्त्री के समान भाषित होती है जिसका नख से शिख तक सम्पूर्ण अलंकार उतार लिया गया हो।

प्रताप नारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी और बालकृष्ण भट्ट आदि के लेखों के जवाब में श्रीधर पाठक ने 'खड़ी हिंदी की कविता पर झगड़ा' शीर्षक लेख लिखा, जिसका प्रकाशन 03 अप्रैल, 1888 ई. के 'हिंदोस्थान' में हुआ। श्रीधर पाठक ने लिखा, "हम आपकी छंद रचना संबंधी युद्ध की मांग को हर्ष पूर्वक स्वीकार करते हैं और इस हिंदोस्थान के रणखेत में संग्राम के हेतु उद्धत हैं। पर याद रहे कि आपको भी ब्रजभाषा में जो छंद हम कहेंगे, बनाने पड़ेंगे, यद्यपि हमारा मत यह है कि जो छंद जिस भाषा में अच्छा बैठे उसी को उस भाषा के लिए उपयुक्त समझना चाहिए। आपकी समझ में खड़ी हिंदी में 21 या 22 से अधिक छंद नहीं आ सकते और हम बीड़ा उठाकर अधिक नहीं तो 21 के ऊपर एक बिंदी लगाकर इस भाषा में छंद दिखला सकते हैं।

इसी तरह जॉर्ज ग्रियर्सन भी भारतेंदु का उदाहरण देकर खड़ी बोली में कविता

को असंभव करार दे रहे थें। भारतेंदु के प्रति ऐसी अंधश्रद्धा रखने वाले विद्वानों से तंग आकर अयोध्या प्रसाद खत्री ने 'एक अगरवाले के मत पर एक खत्री की समालोचना' शीर्षक से एक प्रकीर्णक (पैम्फलेट) प्रकाशित करवाया तथा उसे विद्वानों एवं साहित्य प्रेमियों के बीच वितरित किया। अयोध्या प्रसाद खत्री ने लिखा है, "ब्रजभाषा कविता के पक्षपाती बाबू हरिश्चंद्र की दुहाई देते हैं इसलिए हरिश्चंद्र के वचन का खंडन होना आवश्यक है। बाबू हरिश्चंद्र ईश्वर नहीं थें उनको शब्द शास्त्र (Philology) का कुछ भी बोध नहीं था। यदि शब्दशास्त्र का ज्ञान होता तो खड़ी बोली में पद्य रचना नहीं हो सकती है, ऐसा नहीं कहते।"[18]

बहरहाल, राधा चरण गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट और प्रताप नारायण मिश्र लगातार अपने तर्कों और भारतेंदु हरिश्चंद्र का हवाला देकर खड़ी बोली पद्य का विरोध करते रहें। श्रीधर पाठक और अयोध्या प्रसाद खत्री खड़ी बोली का पक्ष लेते हुए इनके सवालों का जवाब देते हुए लेखकों के बीच खड़ी बोली हिंदी कविता के लिए आम राय कायम करने का प्रयास करते रहें।

उन्नीसवीं सदी के पश्चिमोत्तर प्रांत में खड़ी बोली हिंदी में कविता लिखने के एकमात्र मुखर समर्थक मिलते हैं– श्रीधर पाठक। जिस समय बिहार के बाहर खड़ी बोली के थोड़े से समर्थक थें उस समय उनकी सबल लेखनी ने खड़ी बोली पद्य को मजबूती प्रदान की। यद्यपि अयोध्या प्रसाद खत्री और श्रीधर पाठक दोनों खड़ी बोली पद्य के हिमायती थें, तथापि दोनों के भाषा संबंधी सिद्धांत में मूलभूत अंतर है।

अयोध्या प्रसाद खत्री 'मुंशी हिंदी' के समर्थक थें जबकि श्रीधर पाठक 'पंडित हिंदी' के समर्थक थें। मुंशी हिंदी शैली में आम-फ़हम उर्दू -फारसी शब्दों का प्रयोग किया जाता था और इसकी लिपि देवनागरी थी। पंडित हिंदी शैली में उर्दू-फारसी शब्दों से परहेज किया जाता था और इसकी भी लिपि देवनागरी ही थी। श्रीधर पाठक ने खड़ी बोली की पंडित हिंदी शैली का समर्थन इस संकल्प के साथ किया था कि उस कविता में उर्दू के शब्द घुसने नहीं पाएंगे, हम इसके परिरक्षण में डटे रहेंगे। जब हम उसके परिरक्षण में डटे रहेंगे तो उर्दू की ताव कहाँ जो घुस जाए खड़ी बोली कविता में।" यहाँ परिक्षण शब्द ही बोध कराता है कि श्रीधर पाठक की दृष्टि में खड़ी बोली हिंदी का कौन-सा रूप था। इससे स्पष्ट होता है कि श्रीधर पाठक भिन्न अर्थ में खड़ी बोली हिंदी कविता के समर्थक थें।

हिंदी साहित्य के इतिहास में काव्य स्तर पर 1890 ई. से 1903 ई. तक का काल खंड संक्रमण का काल था। इस कालखंड की कविता में भाषा का कोई स्थिर रूप नहीं मिलता। कोई कवि खड़ी बोली हिंदी में संस्कृत का पुट आवश्यक समझता था तो कोई ब्रज भाषा का। महावीर प्रसाद द्विवेदी और नाथूराम शर्मा 'शंकर' की आरंभिक कविताओं में भी भाषा की एक खिचड़ी दिखाई देती है। आगे चलकर यह स्थिति बिगड़ती ही गयी और भाषा के सामान्य से सामान्य रूप को भी नुकसान पहुंचने लगा। अंत में, 1905 ई. में महावीर प्रसाद द्विवेदी और कामता प्रसाद गुरू के नेतृत्व में भाषा परिष्कार का आंदोलन शुरू हुआ। खड़ी बोली हिंदी की स्वीकार्यता बढ़ने लगी। अब खड़ी बोली से ब्रज भाषा के शब्द रूप और चिन्ह हटाए जाने लगे,

किंतु साथ में आम-फहम उर्दू-फारसी से भी पूरी तरह परहेज किया गया। यह अयोध्या प्रसाद खत्री की खड़ी बोली हिंदी न थी, बल्कि श्रीधर पाठक द्वारा प्रस्तावित संस्कृत निष्ठ खड़ी बोली हिंदी थी।

संदर्भ संकेत

1. Burnes, R.; Introduction of Hindi as Court Language, Page 17.

2. वही, पृ. 15.

3. Beames, J; on the Arabic Elements in official Hindustani; Page 152.

4. कनोडिया, कमला; भारतेंदुकालीन हिंदी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि; पृ. 184.

5. वही; पृ.185.

6. रामगोपाल; भारतीय मुसलमानों का राजनैतिक इतिहास; पृ. 38.

7. Pioneer (Allahabad), Reprinted 6th March, 1998; page 06.

8. Gopal, S.; British Policy in India, Page 259.

9. वही, पृ. 259.

10. दास, सिसिर कुमार ; हिस्ट्री ऑफ इंडियन लिटरेचर : 10911-1956 पृ. 36-37.

11. सहाय, शिवपूजन एवं शर्मा, नलिन विलोचन (संपादक); अयोध्या प्रसाद खत्री - स्मारक ग्रंथ, पृ. 116.

12.मिश्र, शितिकंठ; खड़ी बोली का आंदोलन ; पृ0 178.

13.मिश्र, भुवनेश्वर (सं.); खड़ी बोली का आंदोलन, पृ. 12-19.

14.वही; पृ. 18.

15.मिश्र, प्रताप नारायण; प्रताप नारायण मिश्र रचनावली, भाग-2; पृ. 55.

16.हिंदोस्थान: 8 मार्च, 1998 ई. से उद्धृत.

17.सहाय, शिवपूजन एवं शर्मा, नलिन विलोचन (सं०); अयोध्या प्रसाद खत्री-
स्मारक ग्रंथ; पृ. 86-87.

18.वही; पृ. 86-87.

अध्याय : चार

द्विवेदी युगीन हिंदी भाषा संबंधी विमर्श

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने समय की बदलती राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों में साहित्य को समझने व परखने के साथ-साथ दिशा देने का महत्वपूर्ण कार्य किया। हिंदी साहित्य के संदर्भ में उनका तीन मुख्य अवदान है- पहला एवं सबसे महत्वपूर्ण कार्य हिंदी भाषा के स्वरूप को निश्चित करने का। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने यथार्थ की बदली परिस्थिति में हिंदी भाषा के स्वरूप पर गंभीर चिंतन किया। दूसरा, साहित्य के विषय का चयन एवं तीसरा, अभिव्यक्ति का तरीका। सरस्वती के संपादक की भूमिका में उन्होंने इन तीन बिन्दुओं को लक्ष्य बनाकर हिंदी साहित्य में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया। प्रस्तुत अध्याय में महावीर प्रसाद द्विवेदी के भाषिक चिंतन का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

4.1 महावीर प्रसाद द्विवेदी का भाषा चिंतन

महावीर प्रसाद द्विवेदी का युग हिंदी साहित्य में भाषिक हलचल का समय था। इस दौर में हिंदी साहित्य में एक अजीब किस्म का विभाजन चल रहा था। विभाजन यह था कि गद्य तो खड़ी बोली हिंदी में लिखा जा रहा था, किंतु पद्य ब्रज भाषा में। “ब्रजभाषा की जगह खड़ी बोली को प्रतिष्ठित करने के संघर्ष में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने दूरदर्शिता, धैर्य और समझबूझ का परिचय दिया। वह जानते थे कि यह समस्या एक दिन में हल नहीं हो सकती। लेखक और पाठक अपने अनुभव से ही बहुत-सी बातें सीखेंगे। उन्होंने ‘सरस्वती’ में ब्रज भाषा के समर्थन में लेख छापे।”[1]

दरअसल महावीर प्रसाद द्विवेदी भारतेंदु युग के साहित्यकारों के प्रति आदर का भाव रखते थे। इसके बावजूद महावीर प्रसाद द्विवेदी पद्य की भाषा के रूप में खड़ी बोली हिंदी के व्यवहार का दृढ़ता से समर्थन कर रहे थे . रीतिवाद विरोधी अभियान में उनका एक महत्वपूर्ण लक्ष्य ब्रजभाषा की जगह पद्य की भाषा के रूप में हिंदी की पूर्ण प्रतिष्ठा भी थी। " सरस्वती समकालीन रीतिवादी धारा के विरोध में , ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली के समर्थन में, एक संघर्षरत पत्रिका थी।"[2]

इस संदर्भ में महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा लिखित 'कवि कर्त्तव्य ' नामक लेख विशेष उल्लेखनीय है। इस लेख में उन्होंने पद्य की भाषा के रूप में ब्रजभाषा की जगह हिंदी को पद्य की भाषा के रूप अपनाने की अपील करते हुए लिखते हैं, "कवियों को चाहिए कि वे क्रम से गद्य की भाषा में भी कविता करना प्रारंभ करें। बोलना एक भाषा में और कविता में प्रयोग करना दूसरी भाषा, प्राकृतिक नियम के विरुद्ध है।"[3]

संभवतः इसीलिए महावीर प्रसाद द्विवेदी आजीवन ब्रजभाषा की जगह खड़ी बोली हिंदी को पद्य कविता की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयास करते रहें। उनके भाषिक चिंतन का पहला महत्वपूर्ण पक्ष है। इसी से जुडा देशभाषा का सवाल है जो महावीर प्रसाद द्विवेदी के भाषिक चिंतन को समझने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। यह महावीर प्रसाद द्विवेदी के भाषिक चिंतन का दूसरा पक्ष है .हिंदी साहित्य के इतिहास में यह सर्वविदित तथ्य है कि भारतेंदु निजभाषा के महत्व को लेकर सजग और प्रयासरत थे। उस समय निजभाषा की अवधारणा का संदर्भ साम्राज्यवाद विरोधी चेतना से जुड़ता था। यह भी कहा जा सकता है कि निजभाषा प्रचार -प्रसार साम्राज्यवाद विरोधी अभियान का महत्वपूर्ण पक्ष था। भारतेंदु लेखनी और साहित्यिक

मंचों से निजभाषा की उन्नति पर जोर दे रहे थें। इस संदर्भ में उनकी काव्य-पंक्ति "निजभाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल" प्रसिद्ध है। भारतेंदु से प्राप्त इस परम्परा के विकास में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने बड़ी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 'देशव्यापक भाषा' नामक अपने लेख में महावीर प्रसाद द्विवेदी भाषा की उन्नति के विषय में भाषा का गहरा सम्बन्ध देश की उन्नति से जोड़ते हुए लिखते हैं कि "जिस देश में भाषा अच्छी दशा में वह देश उन्नत हुए बिना नहीं रह सकता। विचारों को प्रकट करने का मार्ग भाषा ही है। जिस देश में सुविचारों का आभाव हो उस देश की अवस्था कभी नहीं सुधरती और सुविचारों का, कला-कौशल सम्बन्धी ज्ञान का, व्यापार विषयक तारतम्य आदि का देश में भाषा के द्वारा ही प्रचार होता है। इसी से देश को उन्नत करने के लिए भाषा की उन्नति ही मुख्य साधन है।"[4]

महावीर प्रसाद द्विवेदी की दृष्टि में यह निजभाषा हिंदी थी। उनका मानना था की बोलने वालों की संख्या और क्षेत्र की व्यापकता के विचार से हिंदी ही देशव्यापक भाषा के रूप में उपयुक्त है। 'हिंदी भाषा और उसका साहित्य निबंध' में राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी की वकालत करते हुए उन्होंने लिखा है कि "पूर्व में गंडक नदी से लेकर पश्चिम में पंजाब तक और उत्तर में कुमायूं से लेकर दक्षिण में विध्यांचल पर्वत के भी उस पार तक की प्रचलित भाषा हिंदी ही है। उसके बोलने और समझने वाले किस प्रान्त में नहीं हैं।"[5]

संभवतः यही कारण है कि महावीर प्रसाद द्विवेदी हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में

प्रतिष्ठित देखना चाह रहे थे। उनको ऐसा लगता था कि हिंदी भाषा बहुत सहज, सरल, जल्दी सीखने वाली भाषा है। इस भाषा की समझ देश के व्यापक भू–भाग लोगों में है एवं जिस क्षेत्र में नहीं है वहां के लोग थोड़े-बहुत प्रयत्न से ही सीख सकते हैं।

हिंदी भाषा की एक विशेषता है- उच्चारण के अनुसार रचना। अर्थात् हम जैसा बोलते हैं उसी के अनुसार वर्ण मिल जाते हैं। महावीर प्रसाद द्विवेदी हिंदी की इस विशेषता से भली-भांति परिचित थे। इसीलिए उन्होंने राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी का समर्थन किया। यह उनके भाषिक चिंतन का महत्वपूर्ण आयाम है। इससे जुदा संदर्भ है उर्दू को लेकर उनका दृष्टिकोण। राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी भाषा के समर्थन में रहे महावीर प्रसाद द्विवेदी का ब्रजभाषा के साथ कड़ा संघर्ष रहा। बल्कि ब्रजभाषा का विरोध उनके रीतिवाद विरोधी अभियान का हिस्सा था। परन्तु उर्दू के प्रति उनका विचार, ब्रजभाषा, हिंदी के संघर्षपूर्ण सम्बन्ध से भिन्न हैं। महावीर प्रसाद द्विवेदी हिंदी, उर्दू को एक ही भाषा मानते थे। सरस्वती में उद्धरित एक पत्र में उन्होंने लिखा है कि- "उर्दू भिन्न भाषा नहीं हैं"। अरबी-फारसी के जो शब्द प्रचलित हैं उन्हें हिंदी के ही शब्द समझता हूँ। मेरे लेख इस बात के प्रमाण हैं। पहले लोग निंदा करते थे। कहते थे यह हिंदी को बिगाड़ रहा है। पर अब नहीं बोलते और लोग भी अब सरस्वती की नक़ल करने लगे हैं।"[6]

हिंदी उर्दू सम्बन्ध को लेकर महावीर प्रसाद द्विवेदी का दृष्टिकोण साम्राज्यवाद विरोधी भाषा चिंतन से अभिप्रेरित था। अंग्रेज हिंदी उर्दू विवाद को हवा देकर देश के

सामाजिक सौहार्द को बिगाड़ने के प्रयास में थे।अंग्रेजों की इस नीति से उत्पन्न भेद को कम करने में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया। उनके इस अवदान को रेखांकित करते हुए आलोचक रामविलास शर्मा ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' में लिखा है कि "अंग्रेजों का यह प्रयास था कि हिंदी उर्दू में ज्यादा भेद पैदा किया जाए। उर्दू को मुख्यतः मुसलमानों की भाषा और हिंदी को केवल हिन्दुओं की भाषा बनाया जाए। इस नीति के विरोध में महावीर प्रसाद द्विवेदी इस भेद को कम करने के पक्ष में थे। और हिंदी उर्दू को मुख्यतः एक ही भाषा मानते थे।इसके सिवाय यह भी जानते थे कि भाषा जड़ और स्थिर वस्तु नहीं है,समय की गति के साथ उसमें परिवर्तन होते हैं। इसलिए एक ओर वह अरबी फारसी के शब्द भर देने के विरोधी थे, दूसरी ओर हिंदी के जातीय स्वरुप की रक्षा करते हुए वह उसमें बोलचाल के अरबी फारसी शब्द लेने के पक्ष में थे। यह भाषा के क्षेत्र में सही साम्राज्य विरोधी नीति थी।"[7] यह महावीर प्रसाद द्विवेदी के भाषिक चिंतन का तीसरा महत्वपूर्ण आयाम है।

चौथा आयाम अनस्थिरता से सम्बंधित है। महावीर प्रसाद द्विवेदी के समकालीन लेखक, सर्वसम्मत व्याकरण के अभाव में हिंदी का मनमाना प्रयोग कर रहे थे। कुछ लेखक संस्कृतनिष्ठ हिंदी में लिख रहे थे, यहाँ संस्कृत के शब्दों का मनमाना प्रयोग हो रहा था जिससे हिंदी भाषा में दुरुहता और जटिलता बढ़ रही थी। यह बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न था।

इस पर महावीर प्रसाद द्विवेदी के विचार बड़े स्पष्ट थे। उनका मानना था कि हिंदी भाषा पर संस्कृत का व्याकरण नहीं चलना चाहिए। हिंदी की अपनी जो

विशेषता है उसको बनाये रखते हुए ही हिंदी में व्याकरण का प्रयोग हो। इसे एक उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है। जैसे हिंदी में गया एक शब्द है। गया का स्त्रीलिंग कुछ लोग गई लिखते थे तो कुछ गयी। इसी प्रकार लिया और दिया का स्त्रीलिंग लिई और दिई के रूप में हो रहा था। इस प्रकार मनमाने प्रयोग पर महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सख्त एतराज जाहिर किया था। अपने एक वक्तव्य में उन्होंने इस पर विचार करते हुए कहा था कि "हिंदी के कुछ हितैषी चाहते हैं कि क्रियाओं के रूप सदृश्य रहे, वे किसी न किसी नियम के अधीन जरूर रहे।"[8]

परन्तु उनका यह मानना था कि हिंदी में यह नियम संस्कृत व्याकरण से अनुशासित न रहे। संस्कृत से अलग हिंदी के एक सर्वसम्मत व्याकरण पर महावीर प्रसाद द्विवेदी का जोर था।

संस्कृत के संदर्भ में व्याकरण के आलावा दूसरी समस्या भी थी जिससे हिंदी प्रभावित हो रही थी। यह समस्या थी हिंदी में संस्कृत के शब्दों के प्रयोग की सीमा। यह इस भाषा की सरलता और जटिलता से जुदा गंभीर सवाल था। इस सवाल पर महावीर प्रसाद द्विवेदी के विचारों का उल्लेख रामविलास शर्मा ने किया है। उन्होंने लिखा है कि – " अन्य समस्याओं की तरह इस समस्या पर भी वह जन-साधारण में शिक्षा प्रचार की दृष्टि से विचार करते हैं। हिंदी को समृद्ध होकर ग्रंथालयों की शोभा नहीं बढ़ाना। उसे विशाल हिंदी प्रदेश में शिक्षा का कारगर माध्यम बनना है। यहाँ साहित्य रचना का उद्द्देश्य भी गौण है। मुख्य उद्देश्य है जनजागरण ,जनता का सामाजिक और सांस्कृतिक अभ्युत्थान। इसलिए महावीर प्रसाद द्विवेदी सरल हिंदी लिखने पर जोर देते हैं जिसका मतलब है ,संस्कृत के अनावश्यक व्यव्हार से हिंदी को

बचाना।"[9]

महावीर प्रसाद द्विवेदी हिंदी को हिंदी रहने देने के समर्थक थे। उनके समकालीन हिंदी रचना संसार में हिंदी पर अंग्रेजी का प्रभाव भी था। साथ ही साथ अंग्रजी के अटपटे अनुवाद का हिंदी में व्यव्हार हो रहा था। जिससे भाषा का रूप प्रभावित हो रहा था। यह प्रभाव सकारात्मक नहीं था। वाक्यरचना विदेशी, शब्दावली में विदेशी शब्दों का अत्यधिक बोलबाला तो था ही ,अग्रेजी के मुहावरों का भी अनुवाद करके हिंदी में प्रयोग किया जा रहा था। हालाँकि हिंदी साहित्य में यह प्रयोग कम हो रहा था लेकिन सरकारी हिंदी में अंग्रजी से अनुदित शब्दों की भरमार होती थी। यह एक प्रकार से सरकारी हिंदी को जटिल और दुरूह बनाने की प्रक्रिया थी। सरकारी हिंदी आज भी सरल नहीं है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस समस्या पर गंभीरता से विचार किया था। यह भी उनके भाषिक चिंतन का एक महत्वपूर्ण पक्ष कहा जा सकता है। 'हिन्दू विश्वविद्यालय का खर्रा' शीर्षक टिप्पणी में उन्होंने लिखा है कि – "गर्भगत हिन्दू विश्वविद्यालय के खर्रे की एक कापी किसी ने हमारे पास भेज देने की कृपा की है। उसे हमने पढ़ा है, पर उसके कितने ही अंश हमारे समझ में नहीं आए।"[10]

उपरोक्त टिप्पणी में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अंग्रेजी के भद्दे अनुवाद का हिंदी में प्रयोग करने को लेकर कड़ी आलोचना की है। उनके सामने अनेक लोग ऐसी हिंदी में लिख रहे थे जो अंग्रेजी के शब्दावली मुहावरों और वाक्य संरचना की अंधाधुंध नक़ल कर रहे थे। अनुवाद की प्रक्रिया में भी तत्सम शब्दावली का अत्यधिक प्रयोग हो रहा

था जो हिंदी की प्रकृति से मेल नहीं खाने के कारण हिंदी में खप नहीं रहे थे, लिहाजा भाषा अटपटी और दुरूह हो रही थी। इस पर सावधान करते हुए महावीर प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि- “यह विधान अंग्रेजी खर्रे का शाब्दिक अनुवाद है। शाब्दिक अनुवाद ही नहीं, इसमें अंग्रेजी के ढंग की तद्वत नक़ल की गई है। इसी से इसकी भाषा, इसकी वाक्यावली, इसकी शैली सभी दुरूह हो गई है। अतएव हमारी समझ में तो इस खर्रे का हिंडो में प्रकाशन ही व्यर्थ हो गया है।”[11]

महावीर प्रसाद द्विवेदी स्वयं अंग्रेजी अच्छी तरह से समझते थे एवं अंग्रेजी से हिंदी अनुवाद भी किया था।अतः अनुवाद की प्रक्रिया में जो कठिनाइयाँ आती है।,उससे वाकिफ थे। परन्तु अनुदित रचना में हिंदी के वास्तविक स्वरूप को लेकर वे सतर्क थे।

इस संदर्भ में उनका स्पष्ट मानना था की “....अनुवाद में हिंदी का स्वरुप बदल ही जाये तो उसका लाभ ही क्या ?”[12]

हिंदी पर अंग्रेजी का असर की जैसी पड़ताल महावीर प्रसाद द्विवेदी ने की वह उनके भाषिक चिंतन का एक उल्लेखनीय पहलु है। उनके इस कार्य पर विचार करते हुए रामविलास शर्मा ने लिखा है कि –“ ...उनकी भाषा सम्बन्धी नीति का विवेचन करते हुए ,हिंदी गद्य के संदर्भ में ,अंग्रेजी के अवांछित प्रभाव की ओर ध्यान देना आवश्यक है।”[13]

यह अवांछित प्रभाव क्या है ? इस प्रश्न के जवाब में स्वयं महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा अनुदित कृतियों को देखना उचित रहेगा। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ‘लार्ड बेकन के अंग्रेजी निबंध का हिंदी में अनुवाद किया था। इस अनूदित निबंध की भाषा में

वाक्य गठन अत्यंत दुरूह है। लम्बे-लम्बे वाक्य के कारण निबंध की सम्प्रेषणीयता बाधित हुई है। इसमें तत्सम शब्दावली की भरमार है। प्रमाणस्वरुप इस निबंध की कुछ पंक्तियाँ प्रस्तुत हैं – " विद्याध्ययन से मन मुदित होता है ,बातचीत में विशेष शोभा आती है, और योग्यता भी बढती है। एकांतवास और निष्कार्य दशा में विद्याध्ययन का मुख्य उपयोग तद्वारा आनंद प्राप्त करने में होता है। संभाषण के समय उसका उपयोग कथन को अलंकृत करने में होता है और सारासार विचारपूर्वक कामकाज की व्यवस्था करने के लिए उसका मुख्य उपयोग व्यवहारदक्षता संपादन करने में होता है। अनुभव से जिसने चातुर्यता प्राप्त की है वह कामकाज अवश्य करते हैं परन्तु सामान्यतः योग्यायोग्य को समझना अनेक उपयोगी युक्ति प्रयोग करना और प्रत्येक भाग को सुव्यवस्थित रखना विद्वानों का काम है।"[14]

उपरोक्त उद्धरण में देखा जा सकता है कि अनुवाद की प्रक्रिया में भाषा कैसा स्वरुप ग्रहण कर ले रहा है। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने यहाँ जिस हिंदी भाषा में निबंध का अनुवाद किया उसमें हिंदीपन कम है। अंगेजी के वाक्य विन्यास का प्रभाव अधिक है। यह उल्लेखनीय तथ्य है कि अंग्रेजी के जिस प्रभाव की ओर वे बराबर ध्यान दिला रहे थे उससे उनकी हिंदी भी, खासकर अनूदित हिंदी रचना भी अछूती नहीं है। हालाँकि बाद के वर्षों में उन्होंने अपनी इस कमी को लेकर काफी गंभीरता से विचार किया। यहाँ महत्वपूर्ण बात है उनकी भाषिक चिंतन में इस समस्या की गहरी पहचान।

भाषा के संदर्भ में, व्याकरण की भूमिका को लेकर भी महावीर प्रसाद द्विवेदी काफी गंभीर थे। इस संदर्भ में भी उनका मत विशेष उल्लेखनीय है। एक ओर जहाँ वे भाषा की स्थिरता का सवाल उठाते हैं वहीं उनका यह भी मानना है कि –" व्याकरण,

भाषा की वृद्धि का अवरोधक है वह भाषा की सजीवता को नष्ट करनेवाला है। भाषाओं के भी जीवन की सीमा होती है, वे भी उत्पन्न होकर बढती हैं और प्रतिकूल समय आते ही नाश को प्राप्त कर जाती हैं। जो भाषा उन्नति कर रही है– बढ़ रही है– उसमें व्याकरण का पंख लगाना मानों उसकी बढ़त को रोक देना है। व्याकरण एक प्रकार की बेड़ी है। भाषा के पैरों से उसका योग होते ही बेचारी भयभीत होकर जहाँ की तहां रह जाती हैं।"[15]

यही कारण है कि महावीर प्रसाद द्विवेदी बोलने की भाषा को, व्याकरण में बंधने के प्रति उदार प्रतीत होते हैं। उन्होंने बोलने की भाषा की परिवर्तनशीलता को देखते हुए, इसको व्याकरण से कुछ हद तक मुक्त रखने की सिफारिश की है।

इसका कारण यह हो सकता है कि बोलने की भाषा में जल्दी-जल्दी परिवर्तन आता है। अलग-अलग प्रान्तों के लोग जब हिंदी बोलते हैं तो उसमें भी पूर्ण रूप से एकरूपता नहीं आ पाती। टोन से लेकर उच्चारण तक में विविधता है। फिर कुछ वाक्य, मुहावरा जो कभी व्याकरण की दृष्टि से मानी होता है वही समय बीतने के साथ-साथ कभी निषिद्ध हो सकता है। ऐसे में कितने व्याकरण बनाये जाने की आवश्यकता है, यह भी एक महत्वपूर्ण सवाल है। इस पर महावीर प्रसाद द्विवेदी का मत उल्लेखनीय है। उनके अनुसार " पहले शब्द तब अनुशासन– पहले साहित्य, तब व्याकरण।"[16]

महावीर प्रसाद द्विवेदी भाषा को व्याकरण-हीन नहीं मानते थे। बस, व्याकरण उनके लिए लिखित भाषा को अनुशासित करनेवाला है। उनके अनुसार –"व्याकरण वह

शास्त्र है जिसमें शब्दों और वाक्यों के परस्पर सम्बन्ध के अनुसार अपेक्षित अर्थ को जानने के नियम होते हैं। अथवा यों कहिये कि जिसके पढने से ठीक लिखना और बोलना आता है।"[17]

उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि महावीर प्रसाद द्विवेदी शब्दों और वाक्यों के संदर्भ में व्याकरण को देखते थे। उनके लिए व्याकरण की भूमिका ठीक-ठीक लिखने और बोलने के संदर्भ में है। लेकिन बोलचाल की भाषा में लिखित व्याकरण की भूमिका पर वे सवाल भी उठाते हैं। उनके अनुसार –" जो लोग पढ़े लिखे नहीं होते हैं वे भी आपस में बातचीत करते हैं। इस आधार पर वे कहते हैं कि – बिना व्याकरण पढ़े ही वे पत्र लिखने लगते हैं और उनके लिखने का मतलब हमलोग समझ लेते हैं।"[18]

उपरोक्त उद्धरणों के अलावा और भी उद्धरण हैं जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि महावीर प्रसाद द्विवेदी बोलचाल की भाषा में व्याकरण को एक अवरोधक की तरह मानते थे, जो भाषा के सहज प्रवाह को बाधित करता है, लेकिन लिखित भाषा में वे भाषिक एकरूपता के लिहाज से व्याकरण की भूमिका को महत्वपूर्ण मानते थे। उनके अनुसार – "जो भाषा लिखी जाती है उसकी बात दूसरी है। जिस भाषा में बड़े-बड़े इतिहास, काव्य, नाटक, दर्शन, विज्ञान और कला-कौशल से सम्बन्ध रखनेवाले महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे जाते हैं, उसका श्रृंखलाबद्ध होना जरूरी है।"[19]

महावीर प्रसाद द्विवेदी का यह कथन भाषा की स्थिरता के संदर्भ में विचारणीय है। दरअसल लिखित साहित्य के माध्यम से मनुष्य दीर्घकाल तक अपना अनुभव

संजोकर रख सकता है। इससे पीढ़ियों तक भाषा को एक स्थिरता मिलती है जिसमें व्याकरण का बड़ा महत्व है। “व्याकरण के बिना यदि लिखित भाषा अपनी परिवर्तनशीलता नहीं रोकेगी, तो इससे समाज को हानी होगी, लोग पुरानी भाषा नहीं समझ पाएंगे, अतः उस भाषा में संचित ज्ञान से वे वंचित रह जायेंगे।”[20]

व्याकरण की भूमिका को महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिंदी के साथ-साथ पालि और प्राकृत भाषाओं के संदर्भ में भी देखा है। पालि और प्राकृत की बात करें तो देखा जा सकता है कि संस्कृत के जैसे ही इन दोनों भाषाओ के व्याकरण भी लिखे गए। यह बात और है कि व्यवहार में उतनी नहीं आई जितना संस्कृत भाषा में संस्कृत व्याकरण। इस संदर्भ में महावीर प्रसाद द्विवेदी के मत से सहमत नहीं हुआ जा सकता है। उनके मतानुसार पालि और प्राकृत – “ये अशिक्षित और ग्राम्य लोगों कि भाषाएँ थी। उनका व्याकरण अपूर्ण है। उनमें कई एक वर्ण ही नहीं हैं। इसीलिए वे चिरकाल तक एक ही दशा में नहीं रहीं”।[21]

उपरोक्त उद्धरण से निष्कर्ष निकलता है कि महावीर प्रसाद द्विवेदी पालि और प्राकृत को लेकर, अपने समय की प्रचलित धारणाओं से सहमत थे। इस प्रकार की धारणाएं विवादास्पद है और इससे पूर्ण सहमत हो पाना संभव नहीं हैं।

महावीर प्रसाद द्विवेदी के भाषिक चिंतन का एक और महत्वपूर्ण पक्ष है– व्यापक भाषा की देशगत एकरूपता। व्यापक भाषा की बात करते हुए उनकी निगाह में हिंदी ही रही। इसका एक कारण तो यह है कि हिंदी देश के अनेक प्रान्तों में व्यापक स्तर पर बोली जाती है। महावीर प्रसाद द्विवेदी इसे सजीव भाषा कहते थे। उनके

अनुसार – "लिखित भाषा की सजीवता का सबसे बड़ा लक्ष्य यह है कि वह अधिक दूर तक व्यापक है। जो भाषा जितनी ही अधिक व्यापक होती है, जिस भाषा का प्रचार जितने ही अधिक प्रान्तों में होती है, जो भाषा जितनी ही अधिक लोगों की समझ में आती है वह भाषा उतनी ही अधिक सजीव समझी जाती है।"[22] यहाँ भी इशारा हिंदी की तरफ है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी के भाषिक चिंतन की सीमाओं और संभावनाओं पर चर्चा की प्रक्रिया में उनके भाषा सम्बन्धी विचारों को समझने का प्रयत्न किया गया है। कुछ पहलू संभवतः छूट भी गए हों। जैसे, विदेशी भाषा को लेकर महावीर प्रसाद द्विवेदी के विचार आदि। कुल मिलाकर "हिंदी को परिनिष्ठित रूप देना एक ऐतिहासिक आवश्यकता को पूरा करना था।"[23]

महावीर प्रसाद द्विवेदी का महत्त्व इस ऐतिहासिक आवश्यकता को समझने और पूरा करने के प्रयास में है। इसे उनके भाषिक चिंतन का केंद्र बिंदु भी कहा जा सकता है।

4.2 मैथिलीशरण गुप्त का भाषा–चिंतन

ब्रिटिश सत्ता तथा अनेक तात्कालीन आन्दोलन के कारण परिस्थितियाँ बहुत तेजी से बदलने लगी। इन नवीन वैचारिक आग्रहों का वहन ब्रजभाषा ग्राह्य नहीं कर पा रही थी। इसलिए खड़ीबोली इस दौर में नवीन विषयों, अर्थ और शिल्प के वर्णन प्रयोग शैली के साथ आगे बढ़ी। इस प्रकार ब्रजभाषा के स्थान पर खडीबोली के प्रादुर्भाव में उपर्युक्त परिस्थितियों का योग रहा। जब खड़ीबोली काव्यभाषा के रूप में

उभर रही थी तब इन दोनों भाषाओं के विकासक्रम की गति सीधे टकराहट में बदल गई । हम देखते हैं कि भारतेन्दु मण्डल के रचनाकार खड़ी बोली का प्रयोग गद्य में करते हैं परन्तु पद्य में ब्रजभाषा के ही बने रहने के पक्षपाती हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वयं भी लिखा है कि- "मैन बेर परिश्रम किया कि खड़ीबोली में कुछ कविता बनाऊँ, पर वह मेरे चित्तानुसार नहीं बनी। इससे यह निश्चय होता है कि ब्रजभाषा में ही कविता करना उत्तम होता है।"[24] भारतेन्दु मण्डल के साथ ही साथ तत्कालीन कई रचनाकार इस मत के समर्थक रहे हैं। प्रताप नारायण मिश्र जी ने 'ब्राह्मण' पत्रिका में लिखा है- "आधुनिक कवियों के शिरोमणि भारतेन्दु जी ही से जब यह कार्य न हो सका तो यत्न निष्फल है।"[25]

खड़ीबोली में पद्य लिखने का प्रयास और उसके लेखन पर विचार विमर्श करते हुए बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री ने मिशनरी प्रभाव को ग्रहण करते हुए. 'खड़ीबोली का पद्य' नामक पुस्तक लिखी थी जिसका प्रकाशन 1887 ई. में तथा द्वितीय खण्ड का सन् 1889 ई. में हुआ। इंग्लैण्ड निवासी पिन्टाक महोदय ने इसे विक्टोरिया शासन की स्वर्ण जयन्ती का सबसे महत्वपूर्ण कार्य बताया था।

इस प्रकार के बहस–विवाद के दौरान ही शब्द-शास्त्र (फिलोलोजी) के ज्ञान के आधार पर खड़ीबोली को वैज्ञानिक भाषा के रूप में विकसित किया जाने लगा। डॉ. ग्रियर्सन के मत से खड़ीबोली के समर्थक काफी असंतोष में आ गए। डॉ. ग्रिर्यसन के मत के विरोध में बोलते हुए श्रीधर पाठक ने 8 मार्च सन् 1988 ई. में 'हिन्दुस्तान' पत्रिका में लिखा था कि– "किसी शिष्ट भाषा के विषय में यह कहना कि वह कविता के योग्य

नहीं है, भाषा के सामान्य स्वरूप और कविता के उद्देश्य से अपनी अनभिज्ञता प्रकट करना है।"[26] इस क्रम में श्रीधर पाठक जी ने अप्रैल अंक में यह भी लिखा है कि- "श्री हरिश्चन्द्र के छोड़ने से क्या हिंदी की कविता सदा सर्वदा के लिए सबके छोड़ने योग्य हो गई?"[27] भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के बाद की पीढ़ी में उनके 'खड़ीबोली काव्य विषयक विचारों को लेकर बहुत ही मतभेद रहा। फलस्वरूप खड़ी बोली को भाषायी और साहित्यिक दृष्टि से योग्य मानने के बावजूद उन्नीसवीं सदी के अंत तक उसे काव्योपयोगी भाषा के रूप में समर्थन बहुत कम ही मिल पाया था। ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली काव्यभाषा के इस विवाद में पं. श्रीधर पाठक ने खड़ीबोली पद्य में कई पुस्तकों का अनुवाद संस्करण प्रस्तुत किया, जिसमें 'एकांतवासी योगी' बहुत ही प्रशंसनीय व सराहनीय रही।

इस प्रकार हम देखते हैं कि खड़ीबोली- ब्रजभाषा विवाद में अनेक विद्वानों की सहभागिता रही किन्तु श्रीधर पाठक ने खड़ीबोली के पक्ष समर्थन तथा काव्य सम्पादन में जिस उत्साह का परिचय दिया वह बहुत ही सराहनीय है। इस आन्दोलन को जनआन्दोलन का रूप देने में बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री का योगदान महत्वपूर्ण है। आगे भी यह विवाद बढ़ा और खड़ीबोली के गद्य और पद्य के समर्थन में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी आगे आएं। उनकी ही प्रेरणा से अयोध्या सिंह उपाध्याय, नाथूराम शर्मा शंकर तथा मैथिलीशरण गुप्त जी भी खड़ीबोली के पक्ष समर्थकों में सम्मिलित हुये ।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी तथा द्विवेदी मण्डल के रचनाकारों ने खड़ीबोली के परिमार्जन तथा परिष्कार में न केवल महत्वपूर्ण कार्य किए बल्कि वर्तमान गद्य-पद्य की समान प्रयोग शैली का ढांचा भी तैयार किया था। द्विवेदी काल तक खड़ीबोली अपने परम्परागत त्रुटीपूर्ण भाषा के साथ चलती आई थी। बीसवीं सदी के द्विवेदी कालखण्ड में ही हिंदी खड़ी बोली भाषा का मानकीकरण हुआ। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसी ओर इशारा करते हुए लिखा है कि- "उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में भाषा के स्वच्छंद प्रयोग से शैली वैचित्र्य का स्वाभाविक विकास हो रहा था। द्विवेदी जी की मंजाई-घिसाई से उसके स्वाभाविक और सहज विकास को थोडा धक्का भी लगा। परंतु सब मिलकर उनके उद्योग से भाषा में स्वच्छन्दता और भाव प्रकाशन की क्षमता आई।"[28] आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने सरस्वती के माध्यम से हिंदी साहित्य में व्याकरण सम्मत भाषा के प्रचार-प्रसार पर जोर दिया। 'रसज्ञ रंजन' में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने लिखा है- "गद्य और पद्य की भाषा पृथक-पृथक नहीं होनी चाहिए। यह निश्चित है कि किसी समय बोलचाल की हिंदी भाषा ब्रज भाषा की कविता के स्थान को अवश्य छीन लेगी इसलिए कवियों को चाहिए कि वे क्रम-क्रम से गद्य की भाषा में कविता करना आरंभ करें।"[29] आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी कविता की भाषा सरल रखे जाने के समर्थक थे, ऐसा साधारण पाठक की बुद्धि ग्राह्यता को देखते हुए कह रहे थे। वे कविता को एक बड़े कार्य की सिद्धि का साधन बनाना चाहते थे। इसलिए वे लिखते हैं कि- "काव्यों की रचना और उनका विषय ऐसा होना चाहिए, जो देश और काल के अनुकूल हो।"[30] हिंदी खड़ीबोली के नवीन काव्य परम्परा पर विचार करते हुए आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

तथा कवि मैथिलीशरण गुप्त तीनों ने ही रसानुभूति अर्थात् रसदशा के पक्ष को विशेष माना है। कवि मैथिलीशरण गुप्त जी कविता पर विचार करते हुए लिखते हैं कि- "कविता तो भावों की प्रकाशक होती है, उसका सम्बन्ध कानों से कम हृदय से अधिक है।"[31] इसी प्रकार आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने लिखा है- "जब कवि की आत्मा का वर्ण्य विषयों से इस प्रकार निकट सम्बन्ध हो जाता है, तभी उसका किया हुआ वर्णन यथार्थ होता है और तभी उसकी कविता पढ़कर पढ़ने वालों के हृदय पर तद्वत् भावनाएं उत्पन्न होती है।"[32] इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग में कवि और कविता के दायित्वों पर विचार-विमर्श एक उद्देश्यपूर्ण दृष्टि से होता रहा और बतौर कवि मैथिलीशरण गुप्त जी ने खड़ीबोली हिंदी की कविताओं में बहुतायत काव्यशास्त्रीय तथा नवीन विषयों के सापेक्ष प्रयोग किए। उन्होंने हिंदी खड़ी बोली मे प्रगीतों की रचना के माध्यम से लम्बी कविता की परम्परा का सूत्रपात किया था।

जिस समय कवि मैथिलीशरण गुप्त जी का प्रवेश हिंदी खड़ीबोली काव्यभाषा के क्षेत्र में हुआ है उस समय तक उन्हें परम्परा या विरासत में एक त्रुटिपूर्ण काव्यभाषा प्राप्त हुई थी, अतः कुछ समय तक आरंभिक रचनाओं में भी वही दोष इंगित होते हैं जो परम्परा में व्याप्त थे। परंतु उनकी कविताओं के क्रमिक विकास से यह समझ में आने लगता है कि उन्होंने खड़ी बोली में क्या मौलिक जोड़ा और कैसे उसे नवीन परिपाटी के अनुरूप ढाला। अतः आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी के सान्निध्य में कवि मैथिलीशरण गुप्त ने निःसंदेह कविता को युगानुकूल भाव, प्रसंग तथा शास्त्रीय मानक दिए। इस तरह द्विवेदी कालखण्ड में हिंदी खड़ीबोली न केवल साहित्यिक काव्यभाषा के तौर पर स्थापित हो चुकी थी, बल्कि गद्य और पद्य दोनों में ही अग्रणी थी,

जनभाषा होने के कारण लेखक और पाठक का एक सोद्देश्यात्मक संबंध समय का साक्षी बना था।

अतः हम यही पाते हैं कि खड़ीबोली का काव्यभाषा के रूप में प्रयोग द्विवेदी युग में सम्पन्न हो गया था तथा आगे गद्य और पद्य के रूप में यह समानाधिकार से प्रयोग में आयी है। कविता का विकास स्वच्छन्दता के साथ समकालीन गद्य-कविता और समकालीन कविता के विविध और बहुआयामी काव्य रूपकों में मुखर हो सका । परंतु खड़ीबोली हिंदी कविता की काव्यमयता में आधुनिक युग के सापेक्ष जिस कवि ने बड़े प्रयोग और मौलिक उद्भावनाएं उपस्थित किए वे हैं कवि मैथिलीशरण गुप्त।

कवि मैथिलीशरण गुप्त का आगमन हिंदी काव्य में ठीक उसी समय हुआ जब आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी का आगमन 'सरस्वती' के प्रकाशन के लिए होता है। अतः उस समय के भाषा विवादों और परिवेश- परिस्थितियों पर विचार करने पर यही अनुमान लगाया जा सकता है कि खड़ीबोली का गद्य और पद्य साहित्य उस समय तक शैशव काल से बाल्यावस्था में प्रवेश कर रहा था। परंतु उसमें वयस्कता और गंभीरता के दर्शन नहीं हो पाते थे। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी आलोचनात्मक दृष्टि से जहाँ गद्य को परिमार्जित करने में जुटे थे, वहीं उन्हीं से प्रेरणा प्राप्त कर मैथिलीशरण गुप्त काव्य क्षेत्र में प्रयोगधर्मी सृजन करने की ओर प्रवृत्त हुए। मैथिलीशरण गुप्त, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से मिलने से पूर्व ब्रजभाषा में ही काव्य रचनाएँ करते थे। प्रथम भेंट के समय से ही आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी से प्रभावित मैथिलीशरण गुप्त ने उनके कथनानुसार खड़ी बोली में या बोलचाल की बोली में काव्य सृजन का मन बना लिया था। यद्यपि खड़ीबोली में उस समय तक लिखने में उन्हें झिझक और थोड़ा

संकोच अवश्य होता था। द्विवेदी जी से हुए पत्र–व्यवहार में कवि मैथिलीशरण गुप्त जी ने लिखा है, “सरस्वती से पूर्ण प्रेम है और खड़ीबोली में यथा शक्य कविता भी रच सकता हूँ। परन्तु क्या किया जाए? खेद का विषय है कि इस दास को स्वभाव से ही खड़ीबोली से कुछ अरुचि सी है। अरूचि है सही किन्तु यद्दा चरित श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः सयत प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते। इस न्याय से जब श्रीमान् जैसे विद्वर पुरुषों को ही खड़ी बोली रूचिकर है तब मुझ जैसे अशिक्षित, अविवेकी, अनभिज्ञ एवं अबोध बालक की गणना ही क्या? अस्तु; अवकाश पाने पर खड़ी बोली में कविता रचकर श्रीमान् की सेवा में अपर्ण करूँगा।”[33] इस प्रकार से बहुत सोचने और प्रयास से आगे चलकर कवि मैथिलीशरण गुप्त जी ने अपनी प्रथम खड़ी बोली की कविता ‘हेमन्त’ शीर्षक में लिखी। उसे ‘सरस्वती’ में प्रकाशन हेतु प्रेषित भी किया, परन्तु वह थोड़ी विलम्ब से प्रकाशित हो सकी और आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी जी ने उसमें कुछ संशोधन भी किया था, इसे देखना अनिवार्य होगा, यथा- कवि मैथिलीशरण गुप्त द्वारा रचित ‘हेमन्त’ की पंक्तियाँ-

“आढें दुशाले अति उष्ण सुंग

धारे गर वस्त्र हिये उमंग ।

तो भी करें है, सब लोग सी. सी.

हेमन्त में हाथ कँपे बत्तीसी ।।[34]

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी द्वारा संशोधित ‘हेमन्त’ का अंश-

अच्छे दुशाले सित, पीत, काले,

है ओढ़त जो बहुचित वाले।

तो भी नहीं बंद अमन्द सी. सी.

हेमन्त में है कंपती बत्तीसी ।"[35]

इसके साथ ही आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने कवि मैथिलीशरण गुप्त को परस्पर कवि कर्तव्य एवं व्याकरणिक अशुद्धियों के प्रति सचेत किया। सरस्वती से ही आधार ग्रहण करते हुए, कवि मैथिलीशरण गुप्त ने नवीन वर्ण्य विषयों पर नवीन छंद योजनाओं में लेखन या काव्य रचना का प्रयास किया। जिससे द्विवेदी काल की खड़ीबोली में प्रबन्धात्मक एवं खण्ड काव्यात्मक रचनाओं के समान ही व्यैक्तिकता की संकल्पना पर प्रगीतात्मक शैली में लेखन का आरंभ हुआ। प्रगीतों की रचना श्रीधर पाठक के यहाँ भी मिलती है, परन्तु उसमें रचना के सशक्त आधार कवि मैथिलीशरण गुप्त से निर्मित हुए। इन्हीं प्रगीतों का आधार आगे चलकर लम्बी कविता की संकल्पनाओं की प्रेरणा का कारण बना।

तमाम भाषा–लिपि विवादों के साथ खड़ीबोली में संस्कृत भाषा बाहुल्य शब्द तथा मुहावरों, देशज शब्द-शैलीयों के नवीन प्रयोग दिखलाई पड़ते है। परन्तु खड़ी बोली की इस अस्थिर संरचना को ध्यान में रखते हुए, कवि मैथिलीशरण गुप्त की यह रचना रंग में भंग (1909) अपनी काव्यभाषा की दृष्टि से उत्कृष्ट रचना है। डॉ. सहदेव वर्मा ने लिखा है, "खड़ीबोली के इस रूप तथा इस काव्य का यदि इससे पहले अथवा

समकालीन किसी भी रचना की तुलना की जाए तो यह तथ्य स्पष्ट हो जाएगा कि गुप्त जी ही खड़ीबोली के प्रथम उन्नायक क्यों है? इनके यहा तत्सम शब्द होते हुए भी न तो उसमें उपाध्याय जी की भाँति रीतिकालीन श्रृंगारिक शैली अथवा ब्रजभाषा का अनावश्यक भार है। श्रृंगार, यथोचित, रीति दर तथा प्रीति आदि प्रत्येक शब्द इतना उपर्युक्त एवं सार्थक है कि वहाँ अन्य शब्द के प्रयोग की अपेक्षा ही नहीं है। इसके साथ ही इस काव्य में मात्रिक छन्द का प्रयोग और उसमें प्रसाद, ओज आदि गुण एवं इस काव्य का महत्व बहुत बढ़ गया है।"[36] 'रंग में भंग' के पश्चात् 'जयद्रथ वध' का प्रकाशन हुआ। जो कि 'रंग में भंग' से भी अधिक व्यवस्थित सजीव और समीचीन काव्य रचना थी। इस काव्य में भाषा लालित्य के साथ सर्वप्रथम खड़ीबोली का साहित्यिक उन्मेष दृष्टिगोचर होता है। इसमें कवि मैथिलीशरण गुप्त ने हरिगीतिका छन्द का प्रयोग किया। यह प्रयोग हिंदी में सरल,साहित्यिक तथा ओजपूर्ण खड़ी बोली के अनुरूप था। यह काव्य रूप यद्यपि परम्परागत है, परंतु उसकी योजना और प्रबन्ध कवि की मौलिक संकलपनाओं से आबद्ध है। डॉ. सहदेव वर्मा ने लिखा है- "भले ही हम जयद्रथ-वध को काव्यकला की दृष्टि से सर्वगुण सम्पन्न न मानें, किन्तु गुप्त जी का प्रबंध कौशल इस काव्य में स्पष्ट दिखलाई पड़ता है, जिसने खड़ीबोली की काव्य-परम्परा में एक निश्चयात्मक रेखा खींचकर उसकी ओर अनेक व्यक्तियों का ध्यान आकर्षित किया। इसी काव्य के साथ हरिगीतिका छंद तथा गुप्त जी का नाम खड़ीबोली साहित्य में सर्वोच्च शिखर पर पहुँच गया और अब खडीबोली में काव्य रचना का विरोध करने वालों को उसकी आलोचना करने से पूर्व बहुत सोच-विचार करना पड़ता था।"[37]

कवि मैथिलीशरण गुप्त ने खड़ीबोली में तत्सम शब्दों की प्रभावशाली योजना से न केवल भाषा तत्व के काव्यत्व को निखारा बल्कि भावतत्व के सांस्कृतिक दृष्टिकोण को उभारने में वे इस युग के सर्वश्रेष्ठ रचनाकार सिद्ध हुए। उनके काव्यभाषा का एक सशक्त उदाहरण 'वसन्त सुषमा' में देखने को मिलता है–

"खिलती हुई कुसुमावली को चपल अलिदल चूमता।

शीतल सुगन्ध समीर भी है धीर गति से घूमता।

मद तुल्य झरनों के अमल जल में कमल-कुल हंस रहा।

पर विंध्य गिरि भी आज मानो मन्त गज सा झूमता।।"[38]

तत्सम के साथ तद्भव, देशज शब्द बंध की योजना से कवि मैथिलीशरण गुप्त खड़ीबोली हिंदी को साधारण जनमानस के अनुकूल भी ढालने का प्रयास करते हैं। कवि मैथिलीशरण गुप्त खड़ीबोली हिंदी के भाषा संरचना में तत्सम शब्दावलियों के प्रयोग के हिमायती थे, परन्तु हिंदी के स्वाभाविक शब्दकोश के भी पक्षधर थे। इसी कारण उन्होंने हिन्दुस्तानी के प्रचलित उर्दू शब्दों और शैलियों को अपने रचनात्मक विवेक में चयनित किया। यथा शैली का प्रभाव देख सकते है-

"क्या 'मर्द' है हम वाह वा। मुखनेत्र पीले पड़ गए।

तन सूख कर कांटा हुआ सब अंग ढीले पड़ गए।।

'मर्दानगी' फिर भी हमारी देख लीलै कम नहीं।

ये भिनभिनाती मक्खियाँ क्या मारते हैं हम नहीं।।"[39]

ये भाषा रचना के उनके प्रारम्भिक प्रयोग है उस समय तक सम्भवतः खडीबोली के भाषा-विधान में स्थिरता नही जा पाई थी।

मैथिलीशरण गुप्त खड़ीबोली को गौरवशाली बनाने के प्रयास में किस तरह प्रयासरत थे, यह 'प्लासी के युद्ध' की भूमिका पढ़कर ही समझा जा सकता है। उनके कुछ विचार यथा है- "हमारी भाषा के साहित्य में जो सामग्री है यह तो हमारी सम्पत्ति है ही यदि दूसरी भाषाओं की विशेष सामग्री भी हमारी भाषा में आकर अपनी हो जाय तो क्या यह थोडे गौरव की बात है।"[40]

मैथिलीशरण गुप्त के लेखन में अप्रस्तुत बिम्बविधान का उत्कर्ष हुआ और उनकी भाषा व भाव दोनों में आगे चलकर संतुलन बना। 1920 ई. के बाद से उनकी रचनाओं में प्रारम्भ से भिन्न भाषा और भाव की संकल्पनाएं हैं। इस दौरान ही 1931 ई. में साकेत, स्वदेश-संगीत, अनघ, हिन्दू, विकट–भट गुरुकुल, झंकार, त्रिपथगा आदि रचनाओं का प्रकाशन हुआ। इन रचनाओं में मैथिलीशरण गुप्त ने एक नवीन मार्ग ही प्रशस्त कर दिया था। खड़ी बोली हिंदी वस्तुतः इसी समय में काव्योपयुक्त भाषा के रूप में जीवन्त हो सकी थी। कवि ने स्वयं ही अपनी काव्योचित पदावली का निर्माण किया। उसे शुद्ध परिष्कृत तथा शक्तियुक्त बनाया। वस्तुतः मैथिलीशरण गुप्त खड़ी बोली काव्य के प्रथम संस्कर्ता है। डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है- "खड़ी बोली को उसका व्याकरण सम्मत शुद्ध एवं मानक रूप में काव्य की प्रभावी माध्यम भाषा बनाने का सर्वाधिक ही नहीं एकान्त श्रेय उनको ही है।"[41]

मैथिलीशरण गुप्त ने खड़ी बोली के माध्यम से भाषा में नाटकीयता, संवाद, चरित्र-चित्रण, प्राकृतिक वैभव तथा मनोभावों का स्वाभाविक वर्णन अत्यन्त सधे रूप से किया। उनकी अन्य रचनाओं में भाषा निरंतर उत्कर्ष की ओर बढ़ती रही है। उनके विषय में डॉ. कमलाकांत पाठक ने लिखा है- "इस दृष्टि से स्पष्ट है कि तृतीय सोपान के अन्तर्गत गुप्त जी की पदावली में संयम की प्रवृत्ति बढ़ी। वह लाक्षणिक, चित्रोपम, चमत्कृतियुक्त और पद-सौष्ठव तथा प्रयोग–कौशल से सम्पन्न दिखाई पड़ती है। इन काव्य-कृतियों में गुप्त जी की पदावली का प्रौढ़ और परिष्कृत स्वरूप उपलब्ध होता है। परवर्ती काल की पदावली में संयम की प्रवृत्ति के कारण उसमें वाग्वैभव और प्रसाधन की न्यूनता दृष्टिगत होती हैं। कवि भाव– गाम्भीर्य और दार्शनिक मन्तव्यों को स्पष्ट, सरल और साधु पदावली में प्रयुक्त करने लगा है। गुप्त जी ने संश्लिष्ट और समास शैली की अपेक्षा विवरणात्मक व्यास–शैली को ही मुख्यतः व्यवहृत किया है। आशय यह है कि गुप्त जी की प्रारंभिक पदावली में शुद्धि और यथातथ्यता का आग्रह है, उत्कर्ष काल की पदावली में शुद्धि और सौन्दर्य का अर्जन हुआ है तथा परवर्ती काव्य की पदावली मे गाम्भीर्य का विधान किया गया है। वह मुख्यतः साधु और सरल तथा स्पष्ट और साभिप्राय है।"[42] इसी क्रम में हम देखते हैं कि भाव-गाम्भीर्य के साथ कवि की भाषा व्यंजनात्मक होती चली गई है। यद्यपि कवि मैथिलीशरण गुप्त को अभिधा प्राधान्य रचनाकार स्वीकारा गया है, परन्तु वे व्यंजना और लक्षणा शब्द शक्तियों का प्रयोग भी सफलतापूर्वक करते हैं। नामवर सिंह ने लिखा है- "गुप्त जी मूलतः अभिधा के कवि है। अभिधा के समर्थ कवि! अभिधा का कवि होना कोई त्रुटि नहीं है, क्योंकि हमारा संपूर्ण प्राचीन काव्य प्रायः अभिधेयात्मक ही है, दूसरे, अभिधेयात्मक काव्य का यह अर्थ नहीं

है कि उसमें कही शब्द की लक्षणा और व्यंजना-शक्तियों से काम लिया ही न गया हो।"[43]

भाषा की दृष्टि से इनके काव्यों की गणना नि:संदेह काव्य जगत की श्रेष्ठ रचनाओं में की जाती है। यहां भाषा टकसाली होने के साथ ही चित्रात्मक भी है। साथ ही परिमार्जित एवं प्रसाद गुण युक्त भी है। डॉ० नन्दकिशोर नवल ने 'विष्णुप्रिया' के सन्दर्भ में लिखा है- "विष्णुप्रिया की भाषा द्विवेदी युगीन काव्य-भाषा से भिन्न वह भाषा है, जो गुप्त जी के कारखाने में ढलकर निकली है। स्वभावतः इसमें कर्ता, कर्म, क्रियापद आदि के स्थान पहले से नियत नहीं है। पूरा वाक्य भावों के अनुसार उठता, ठहरता और मोड़ लेता हुआ आगे बढ़ता है।"[44] यथा–

"कलियों-सी खिलती नवेली दो सहेलियाँ
पूजा–हेतु फूल चुनती थीं फुलवारी में
प्रातःकाल। भाल चूमती थी भानु किरणें,
मुख हिम–बिन्दु से चमकते थे उनके ।।"[45]

इस प्रकार मैथिलीशरण गुप्त ने काव्य में खड़ी बोली के विकास हेतु कई स्तरों पर योगदान दिया। इनके आधार पर कवि के काव्यभाषा वैशिष्ट्य को यथावत समझा जा सकता है- मैथिलीशरण गुप्त की काव्य भाषा के रूप में व्यवहारिक बोलचाल की खड़ी बोली के बजाए साहित्यिक खड़ी बोली को अपनाया। तत्सम शब्दावलियों का चयन करते हुए उनकी काव्यभाषा द्वारा खड़ीबोली हिंदी का स्वभाविक विकास संभव

हो पाया है। काव्य भाषा पर प्रांतीय प्रभाव भी पड़ा है। डॉ० उमाकांत द्विवेदी ने लिखा है- “हमारी प्रान्तीय बोलियों में कभी- कभी ऐसे अर्थपूर्ण शब्द मिल जाते हैं जिनके पर्याय हिंदी में नहीं मिलते। जब हम अरबी, फारसी और अंग्रेजी के शब्द निस्संकोच भाव से स्वीकार करते हैं तब आवश्यक होने पर अपनी प्रान्तीय भाषाओं से उपयुक्त शब्द ग्रहण करने में हमें क्यों संकोच होना चाहिए।”[46]

जिस प्रकार गुप्त जी ने खड़ी बोली को काव्योपयोगी भाषा बनाया है, उसी प्रकार उन्होंने उसकी पदावली के संगीत को विविध प्रकार की छंद गतियों में बांधा है। उनका छन्द-शिल्प हिंदी की प्रकृति को लिये हुए है। उन्होंने अन्य भाषाओं के छन्दों को प्रायः व्यव्हृत नहीं किया है, उनके शिल्प को ही हिंदी के पद्य–बन्धों में प्रयुक्त किया है। किसी आधुनिक कवि ने कदाचित हिंदी की परम्परा में स्वीकृत इतनी अनेक रूपात्मक छंद-सृष्टि नहीं की है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि कवि मैथिलीशरण की काव्यभाषा ब्रजभाषा से प्रारंभ होकर न केवल खड़ी बोली हिंदी या राजभाषा हिंदी तक ही पहुंची, बल्कि अनेक पगडंडियों से गुजरती हुई, नये मार्ग का सृजन करती चली। इस कारण उनकी काव्ययात्रा आज भी प्रासंगिक है। मैथिलिशरण गुप्त की खड़ी बोली और काव्य विषयक अवदान के सन्दर्भ में प्रभाकर श्रोत्रिय ने लिखा है कि, “प्रगतिशील और राष्ट्रीय कविता के लिए खड़ी बोली को गुप्त जी ने एक आदर्श व मानक काव्यभाषा के रूप में स्थापित किया। छायावादी कवियों में निराला के लिए वैविध्य, भाषा के लौकिक स्वभाव और प्रवाहशीलता की दृष्टि से गुप्त जी सर्वाधिक उपयोगी कवि रहे होंगे। यह

ठीक है कि पंत को गुप्त जी से कोमलकांत, ललित और महीन पदावली नहीं मिली और न महादेवी को रहस्यमयी आत्म-व्यंजक भाषा, प्रसाद को अनेक स्तरीय भाव गांभीर्यमयी कल्पना-रंजित शब्द-परम्परा भी संभवत गुप्त जी से प्राप्त नहीं हुई हो और निराला को भी उत्कृष्ट ऊर्जा और विराट आयोजन अपने भीतर ही तलाशना पड़ा हो, परन्तु गुप्त जी ने आगामी कवियों के सामने भाषा के टकसाली रूप के साथ स्वयं टकसाल भी दे दी थी जिसका उपयोग उन्होंने अपनी प्रखर प्रतिभा, ऊर्जा, विद्धता और आत्मानुभूति से किया। आगामी कविता को मिले गुप्त जी आदि के अवदान को हम भले अलग से रेखांकित न कर सके लेकिन समग्र रूप से जो व्यवस्थित, स्वाभाविक साफ-सुथरी प्रासादिक, लोक और संस्कृति से पोषित काव्यभाषा, एकः उत्सुक पाठक समाज के साथ, उन्हें विरासत में दी गयी थी। उसी के कारण हिंदी काव्य-धारा बेखटके अत्यंत तीव्रता से प्रवाहित हो सकी।"[47] कवि मैथिलीशरण गुप्त ने जिस खड़ी बोली को काव्यभाषा के रूप में स्थापित किया उसका प्रभाव उनके परवर्ती रचनाकारों ने ग्रहण किया। इनमें समकालीन रचनाकारों से लेकर छायावादी, प्रगति, प्रयोगवादी रचनाकार भी शामिल हो जाते हैं।

संदर्भ संकेत

1. शर्मा, रामविलास; महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण; पृष्ठ 293.
2. शर्मा, रामविलास; महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण; पृष्ठ 260.
3. गौड़, डॉ. हरप्रकाश; सरस्वती और राष्ट्रीय जागरण; पृष्ठ 94.
4. सरस्वती और राष्ट्रीय जागरण; पृष्ठ 97.
5. सरस्वती और राष्ट्रीय जागरण; पृष्ठ 98.
6. शर्मा, रामविलास; महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण; पृष्ठ 252.
7. शर्मा, रामविलास; महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण; पृष्ठ 252.
8. शर्मा, रामविलास; महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण; पृष्ठ 252.
9. शर्मा, रामविलास; महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण; पृष्ठ 252.
10. शर्मा, रामविलास; महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण; पृष्ठ 253.
11. शर्मा, रामविलास; महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण; पृष्ठ 253.
12. शर्मा, रामविलास; महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण; पृष्ठ 254.

13. शर्मा, रामविलास; महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण; पृष्ठ 254.

14. शर्मा, रामविलास; महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण; पृष्ठ 255.

15. शर्मा, रामविलास; महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण; पृष्ठ 258.

16. शर्मा, रामविलास; महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण; पृष्ठ 259.

17. शर्मा, रामविलास; महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण; पृष्ठ 259.

18. शर्मा, रामविलास; महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण; पृष्ठ 259.

19. शर्मा, रामविलास; महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण; पृष्ठ 261.

20. शर्मा, रामविलास; महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण; पृष्ठ 261.

21. शर्मा, रामविलास; महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण; पृष्ठ 261.

22. शर्मा, रामविलास; महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण; पृष्ठ 362.

23. शर्मा, रामविलास; महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण; पृष्ठ 269.

24. वर्मा, डॉ.सहदेव,मैथिलीशरण गुप्त का खड़ी बोली के उत्कर्ष में योगदान, पृ. 103

25. वही, पृ.104

26. वही, पृ.106

27. वही, पृ.106

28. द्विवेदी; डॉ.हजारी प्रसाद, हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास, पृ. 216

29. द्विवेदी महावीर प्रसाद, रसज्ञ रंजन, पृ. 20

30. नवल, नंद किशोर; हिंदी आलोचना का विकास, पृ. 44

31. वर्मा, डॉ.सहदेव; मैथिलीशरण गुप्त का खड़ी बोली के उत्कर्ष में योगदान, पृ.115

32. नंद किशोर नवल, हिंदी आलोचना का विकास, पृ.46

33. चतुर्वेदी, जगदीश प्रसाद, मैथिलीशरण गुप्त की काव्ययात्रा, पृ.30–31

34. वही, पृ.31

35. वही, पृ.31–32

36. वर्मा, डॉ.सहदेव, मैथिलीशरण गुप्त का खड़ी बोली के उत्कर्ष में योगदान, पृ.197–198

37. वही, पृ. 198–199

38. वही, पृ. 201

39. गुप्त, मैथिलीशरण; भारत–भारती, पृ.12

40. गुप्त, मैथिलीशरण, प्लासी का युद्ध,भूमिका

41. डॉ. नगेंद्र, मैथिलीशरण गुप्त, पुनर्मूल्यांकन, पृ.93

42. पाठक, डॉ. कमलाकांत; मैथिलीशरण गुप्त व्यक्ति और काव्य, पृ.675–76

43. नवल, नंद किशोर; मैथिलीशरण(आलोचना), पृ.387

44. वही, पृ.307

45. वही, पृ.307

46. द्विवेदी, डॉ.उमाकांत, मैथिलीशरण गुप्त:कवि और भारतीय संस्कृति के आख्यता, पृ.316

47. श्रोत्रिय, डॉ.प्रभाकर, अतीत के हंस: मैथिलीशरण गुप्त, पृ.34

अध्याय : पाँच

छायावाद युगीन हिंदी भाषा संबंधी विमर्श

हिंदी साहित्य के इतिहास में 1918 ई० से 1936 ई० के कालखंड को छायावाद नाम से पहचाना जाता है। छायावाद की पृष्ठभूमि में द्विवेदी युग है, हालांकि भाषा के प्रति द्विवेदी युगीन सजगता एवं आग्रहशीलता के बावजूद छायावादी कवि उसकी कमजोरियों को नजरंदाज नहीं कर पाते। केदारनाथ सिंह ने द्विवेदी युग और छायावादी युग के कवियों के भाषा चिंतन पर गहरायी से विचार किया है। उनके अनुसार "द्विवेदी युग का कवि शब्द को उसके कोशगत अर्थ में ही प्रयुक्त करता था जबकि छायावादी कवि ने काव्य-भाषा में क्रांतिकारी परिवर्तन लाकर काव्य-भाषा की सोच में ही अंतर ला दिया था।[1]

5.1 छायावादी कवियों का भाषा-चिंतन

छायावाद स्वाधीनता की भावना का काव्य है। यह बेहद आश्चर्यजनक है कि तद्‌युगीन परिवेश में भले ही राजनीतिक स्वतंत्रता की प्राप्ति न हुई हो किंतु छायावादी कवियों का हृदय मानसिक रूप से स्वतंत्र हो चुका था। मानसिक स्वाधीनता के कारण कवियों की भावनाओं और विचारों को असीम विस्तार मिला। मानसिक स्वाधीनता ने कवियों को कल्पनाशील बनाया। उन्होंने काव्य के लिए नये-नये क्षेत्र ढूंढे। नयी भाषा ढूँढी, नया शिल्प और नये छंद ढूँढे और जब छंद का बंधन महसूस हुआ तो मुक्त छंद में भी रचना की।

छायावाद के एक सिरे पर द्विवेदी युग है तो दूसरे सिरे पर प्रगतिवादी युग। इन्हीं दोनों के बीच छायावादी काव्य अपना विस्तार पाता रहा है। दूसरे अर्थों में इसे एक सिरे से दूसरे सिरे तक पहुँचने की यात्रा के रूप एक में भी रेखांकित किया जा सकता है। द्विवेदी युग में यह तो अवश्य तय हो गया था कि पद्य की भाषा खड़ी बोली हो किंतु इसे द्विवेदी युग की सीमा ही कहा जाएगा कि उस युग की काव्यभाषा में गद्यात्मकता के गुण अधिक थे। द्विवेदी युग की भाषा विश्लेषणात्मक, शुष्क और विचार - प्रधान थी। इसके विपरीत छायावादी कवि संवेदनशील, भावुक और कल्पनाजीवी था। छायावादी कवियों की प्रवृत्ति स्वच्छंद थी तथा कोमलता, सुंदरता और भावप्रवणता की ओर उनका झुकाव था। इसलिए छायावादी कवियों के लिए यह आवश्यक था कि वह द्विवेदी युग से प्राप्त काव्य-भाषा को नया रूप प्रदान करे।

द्विवेदी युग की भाषा में संस्कृत के तत्सम शब्दों का बाहुल्य था। दीर्घ सामासिक पदों के कारण भाषा बेहद जटिल हो गयी थी यद्यपि छायावादी कवियों ने भी संस्कृत शब्दों के प्रयोग की प्रवृत्ति का ही अनुसरण किया है तथापि शब्द चयन में उन्होंने अपनी प्रवृत्ति का ध्यान - अवश्य रखा है इसी तरह लम्बे सामासिक पदों के बजाए छंद और लय के अनुकूल पद-रचना पर उन्होंने विशेष ध्यान दिया।

देख वसुधा का यौवन भार

गूंज उठता है जब मधुमास,

विधर उर के-से मृदु उद्गार

कुसुग जब खुल पड़ते सोच्छवास

न जाने सौरभ के मिस कौन

संदेशा मुझे भेजता मौन

छायावादी कवियों ने अपने भाषा- चिंतन में मुख्य रूप से संस्कृत केंद्रित होते हुए भी भारतीय भाषाओं की उपेक्षा नहीं की है। छायावादी कवियों की पद-रचना पर बांग्ला काव्य विधान, विशेष रूप हो रवीन्द्रनाथ ठाकुर की पद रचना का प्रभाव माना गया है। 'सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की कविता 'जूही की कली' से कई उदाहरण प्रदर्शित कर नामवर सिंह ने इस प्रभाव का विवेचन किया है। उनके अनुसार 'विजय - वन - वल्लरी', 'स्नेह - वन - वल्लरी, स्नेह - स्वप्न-मग्न', 'अमल - कोमल - तन', 'कुंज - लता - 'पुँज', उपवन - सर -सरित्', 'गहन गिरि कानन' जैसे पद रचनाओं के पीछे स्पष्ट रूप से रवीन्द्रनाथ का काव्य ही प्रेरक है।

छायावादी कवियों ने यद्यपि अपने आरम्भिक दौर में संस्कृतिनष्ठ तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक किया लेकिन आगे चलकर उन्होंने तद्भव, शब्दों के प्रयोग में भी रुचि दिखायी। छायावादी कवियों ने कई तत्सम शब्दों को नये तद्भव रूप भी प्रदान किये साथ ही, कभी-कभी देशज शब्दों का भी प्रयोग किया है।

छायावादी कवियों का काव्य-संस्कार अंग्रेजी के स्वच्छंदतावादी काव्य से भी निर्मित हुआ था। इसलिए उनकी काव्य -भाषा पर इन कवियों की पद-रचना का भी

प्रभाव है। सुमित्रानंदन पंत की कविता पर यह प्रभाव विशेष रूप से दिखायी देता है। 'ब्रोकेन हॉर्ट' के लिए 'भग्न हृदय', 'हेवेन्ली लाईट' के लिए 'स्वर्गीय प्रकाश', 'गोल्डेन ड्रीम' के लिए 'सुनहला स्वप्न' आदि ऐसे ही प्रयोग के उदाहरण छायावादी कवियों की रचनाओं में निदर्शित होते हैं।

छायावादी कवि शब्दों के चयन के स्तर पर उसके अर्थ की ओर विशेष रूप से सजग रहते हैं। इसलिए उनका शब्द प्रयोग सर्वत्र सजगता से हुआ है। एक ही शब्द के पर्यायवाची शब्दों में एक सूक्ष्म अर्थभेद को ध्यान में रखकर वे उसके अनुकूल उनका प्रयोग करते हैं। शब्दों के चयन के स्तर पर छायावादी कवियों का दूसरा ध्यानाकर्षण शब्दों के नाद-सौन्दर्य पर है। इसके लिए वे अनुप्रास का सहारा लेते हैं। छायावादी कवि इसका विशेष ध्यान रखते थे कि कविता को पढ़ते समय कोई शब्द कर्ण-कटु न लगे और जो प्रभाव वे उत्पन्न करना चाहते हैं, शब्द ठीक-ठीक वही प्रभाव उत्पन्न करें।

सभी छायावादी कवियों की रुचि एक - सी नहीं है। नामवर सिंह ने इसका विवेचन करते हुए लिखा है कि "हर छायावादी कवि के अपने कुछ प्रिय शब्द हैं और उन शब्दों से उनकी पूरी प्रवृत्ति का पता चलता है सुमित्रानंदन पंत के शब्द अरूप और वायवी अधिक हैं, क्योंकि वे कल्पना-प्रधान थे। प्रसाद के शब्द मधु की तरह प्रगाढ़ अधिक है क्योंकि वह गहन अनुभूतियों के अधिक कवि थे। सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' के शब्द अनेक प्रकार के हैं; क्योंकि उनमें प्रवृत्ति- बहुलता है- कहीं उनकी पदावली विराटता का बोध कराती है, कहीं विद्रोह का और कहीं गाढ़ता का। महादेवी वर्मा की

पदावली से अतिशय अलंकृति का आभास मिलता है। पंत के शब्द यदि कुसुम हैं तो महादेवी के पद माणिक्य। महादेवी के शब्दों में 'रत्नों' की सी चमक, कठोरता तथा कटा- छँटापन मिलता है, इससे उनके स्वभाव के अतिशय परिष्कार तथा तराश का बोध होता है।"[2] इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि छायावादी कवियों का भाषा-चिंतन वैयक्तिक होते हुए भी एक खास तरह की विचारधारा से अनुप्राणित है। छायावादी कवियों के भाषा चिंतन का मूल स्वर संस्कृतनिष्ठता एवं तत्समता की ओर है। एक अर्थ में इसे हिंदू भाषा भी कहा जा सकता है। छायावादी कवियों की भाषा अपने समय के समाज से कटी हुई भाषा है। तद्‌युगीन समय में छायावादी कवियों की भाषा को समाज में कोई नहीं बोलता था। इस अर्थ में इसे कृत्रिम भाषा भी कहना अनुचित न होगा।

निष्कर्षतः छायावादी कवियों के चिंतन का केंद्र 'मुक्ति' है। छायावादी काव्य मुक्ति का काव्य है, स्वाधीनता का काव्य हैं। छायावादी कवियों की मुक्ति की आकांक्षा काव्य-शिल्प के क्षेत्र में व्यक्त हुई। मानसिक स्वाधीनता ने कवियों को कल्पनाशील बनाया। उन्होंने काव्य के लिए नये-नये क्षेत्र ढूंढे। नयी भाषा ढूंढी, नया शिल्प और नये छंद ढूँढे और जब छंद का बंधन महसूस हुआ तो मुक्त छंद में भी रचना की। छायावादी कवियों की भाषा सरस, कोमल और सहज थी परंतु आवश्यकतानुसार उसमें विराट, कठोर तथा उद्दाम भावनाओं को व्यक्त करने की शक्ति भी थी उन्होंने मुक्तक लिखे, गीत लिखे, लंबी कविताएँ लिखीं। 'तुलसीदास' जैसा खंडकाव्य लिखा, तो 'कामायनी'

जैसे महाकाव्य की भी सर्जना की। काव्य - शिल्प के क्षेत्र में छायावाद ने हिंदी कविता में क्रांति ला दी।

5.2 प्रेमचंद का भाषा-चिंतन

प्रेमचंद भारतीय भाषाओं के सर्वाधिक लोकप्रिय लेखक हैं। उनकी लोकप्रियता का एक कारण उनका भाषा-चिंतन भी रहा है। आज भी यह बात निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि भारत की राष्ट्रभाषा के आदर्श रूप का सर्वोत्तम उदाहरण प्रेमचंद की भाषा है। प्रेमचंद द्वारा लिखीत मुख्य चार लेख हैं जिनसे प्रेमचंद के भाषा-चिंतन की विस्तृत समझ मिलती है। इन चारों लेखों के शीर्षक हैं- **'राष्ट्रभाषा हिंदी और उसकी समस्याएँ'**, **'कौमी भाषा के विषय में कुछ विचार'**, **'हिंदी-उर्दू की एकता'** तथा **'उर्दू, हिंदी और हिंदुस्तानी'** ये चारों लेख उनकी पुस्तक **'साहित्य का उद्देश्य'** में संकलित है।

'कौमी भाषा के विषय में कुछ विचार' शीर्षक लेख में प्रेमचंद लिखते हैं, "समाज की बुनियाद भाषा है। भाषा के बगैर किसी समाज का ख्याल भी नहीं किया जा सकता। किसी स्थान की जलवायु, उसके नदी और पहाड़, उसकी सर्दी और गर्मी और अन्य मौसमी हालातें, सब मिल-जुलकर वहाँ के जीवों में एक विशेष आत्मा का विकास करती हैं, जो प्राणियों की शक्ल-सूरत, व्यवहार, विचार और स्वभाव पर अपनी छाप लगा देती हैं और अपने को व्यक्त करने के लिए एक विशेष भाषा या बोली का निर्माण करती है। इस तरह हमारी भाषा का सीधा संबंध हमारी आत्मा से है। ... मनुष्य में मेल-मिलाप के जितने साधन हैं उनमें सबसे मजबूत असर डालनेवाला रिश्ता भाषा

का है। राजनीतिक, व्यापारिक या धार्मिक नाते जल्द या देर में कमजोर पड़ सकते हैं और अक्सर टूट जाते हैं, लेकिन भाषा शक्तियों की प्रवाह का रिश्ता समय की और दूसरी बिखेरनेवाली शक्तियों की परवाह नहीं करता और इस तरह से अमर हो जाता है।[3]

भारत में भाषाओं के विवाद की स्थिति औपनिवेशिक काल से बनी हुई है हिंदी भाषी राज्यों की स्थानीय बोलियाँ अब अपने स्वतंत्र पहचान के लिए संघर्ष कर रही हैं। भोजपुरी, राजस्थानी, छत्तीसगढ़ी आदि हिंदी की बोलियाँ हिंदी के विराट परिवार से अलग होकर संविधान की आठवीं अनुसूची में शामिल होने की मांग कर रही हैं। प्रेमचंद भविष्यद्रष्टा भाषा चिंतक थे। उन्होंने बहुत पहले ही आगे आनेवाली परिस्थिति को भाँप लिया था। इस संबंध में प्रेमचंद लिखते हैं कि " जैसे-जैसे सभ्यता का विकास होता जाता है, यह स्थानीय भाषाएँ किसी सूबे की भाषा में जा मिलती हैं और सूबे की भाषा एक सार्वदेशिक भाषा का अंग बन जाती है। हिंदी ही में ब्रजभाषा, बुंदेलखंडी, अवधी, मैथिली, भोजपुरी आदि भिन्न - भिन्न शाखाएँ हैं, लेकिन जैसे छोटी छोटी धाराओं के मिल जाने से एक बड़ा दरिया बन जाता है, जिसमें मिलकर नदियाँ अपने को खो देती हैं। उसी तरह ये सभी प्रांतीय भाषाएँ हिंदी की मातहत हो गयीं हैं और आज उत्तर भारत का एक देहाती भी हिंदी समझता है और अवसर पड़ने पर बोलता भी है। लेकिन हमारे मुल्की फैलाव के साथ हमें एक ऐसी भाषा की पर गई है जो सारे हिंदुस्तान में समझी और बोली जाए, जिसे हम हिंदी या गुजराती या मराठी

या उर्दू न कहकर हिंदुस्तानी भाषा कह सकें, हर एक अंग्रेज या जर्मन या फ्रांसीसी फ्रेंच या जर्मन या अंग्रेजी भाषा बोलता है और समझता है। हम सूबे की भाषाओं के विरोधी नहीं हैं। आप उनमें जितनी उन्नति कर सकें करें लेकिन एक कौमी भाषा का मरकजी सहारा लिए बगैर एक राष्ट्र की जड़ कभी मजबूत नहीं हो सकती।[4]

प्रेमचंद की चिंता है कि भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग दोहरी नीति को अपनाता है जो कि सही नहीं है। आज कौमी भाषा का स्थान अंग्रेजी ने ले लिया है। प्रेमचंद यह सवाल करते हैं कि 'अंग्रेजी राजनीति का, व्यापार का, साम्राज्यवाद का हमारे ऊपर जैसा अतंक है, उससे कहीं ज्यादा अंग्रेजी भाषा का है। अंग्रेजी राजनीति से, व्यापार से, साम्राज्यवाद से तो आप बगावत करते हैं, लेकिन अंग्रेजी भाषा को आप गुलामी के तौक की तरह गर्दन में डाले हुए हैं। अंग्रेजी राज्य की जगह आप स्वराज्य चाहते हैं, उनके व्यापार की जगह अपना व्यापार चाहते हैं, लेकिन अंग्रेजी भाषा का सिक्का हमारे दिलों पर बैठ गया है उसके बगैर हमारा पढा लिखा समाज अनाथ हो जाएगा।"[5] प्रेमचंद की दृष्टि में अंग्रेजी जानने वालों और अंग्रेजी न जानने वालों के बीच गहरा स्तर भेद है। इन दोनों के बीच स्तर–भेद का विश्लेषण करते हुए प्रेमचंद लिखते हैं, "पुराने समय में आर्य और अनार्य का भेद था आज अंग्रेजी और अंग्रेजीदा का भेद है। अंग्रेजीदां आर्य है, उसके हाथ में अपने स्वामियों की कृपादृष्टि की बदौलत कुछ अख्तियार है, रोष है, सम्मान है। गैर अंग्रेजीदां अनार्य हैं और उसका काम केवल आर्यों की सेवा-टहल करना है और उनके भोग-विलास और उनके भोजन के लिए साम्रगी जुटाना है। यह

आर्यवाद बड़ी तेजी से बढ़ रहा है, दिन दूना और रात चौगुना।... हिंदुस्तानी साहबों की अपनी बिरादरी हो गयी है, उनका रहन - सहन, चाल-ढाल, पहनावा, बर्ताव सब साधारण जनता से अलग है। साफ मालूम होता है कि यह कोई नयी उपज है।"[6] प्रेमचंद हमें आगाह करते हैं, 'जबान की गुलामी ही असली गुलामी है। ऐसे भी देश संसार में है जिन्होंने हुक्मराँ जाति की भाषा को अपना लिया। लेकिन उन जातियाँ के पास न अपनी तहजीब या सभ्यता थी और न अपना कोई इतिहास था, न अपनी कोई भाषा थी, वे उन बच्चों की तरह थे जो थोड़े ही दिनों में अपनी मातृभाषा भूल जाते हैं और नयी भाषा में बोलने लगते हैं। क्या हमारा शिक्षित भारत वैसा ही बालक है? ऐसा मानने की इच्छा नहीं होती. हालांकि लक्षण सब वही है।"[7]

प्रेमचंद की चिंता का केंद्रबिंदु कौमी भाषा है। कौमी भाषा के स्वरूप पर प्रेमचंद ने गहराई से विचार किया है, साथ ही अपने विचार की पुष्टि के लिए ठोस तर्क और उदाहरण भी प्रस्तुत किया है। प्रेमचंद पूछते हैं "सवाल यह होता है कि जिस कौमी भाषा पर इतना जोर दिया जा रहा है, उसका रूप क्या है? हमें खेद है कि अभीतक उसकी कोई खास सूरत नहीं बना सके हैं, इसलिए कि जो लोग उसका रूप बना सकते थे और हैं वे अंग्रेजी के पुजारी थे मगर उसकी कसौटी यही है कि उसे ज्यादा- से - ज्यादा भाषा आदमी समझ सकें। हमारी कोई सूबे वाली भाषा इस कसौटी पर पुरी नहीं उतरती। सिर्फ हिंदुस्तानी उतरती है, क्योंकि मेरे ख्याल में हिंदी और उर्दू दोनों

एक जबान हैं। क्रिया और कर्ता, फेल और फाइल जब एक हैं तो उनके एक होने में कोई संदेह नहीं हो सकता। उर्दू वह हिंदुस्तानी जबान है, जिसमें फारसी अरबी के लफ्ज ज्यादा हो, इसी तरह हिंदी वह हिंदुस्तानी है, कि जिसमें संस्कृत शब्द ज्यादा हों, लेकिन जिस अंग्रेजी में चाहे लैटिन या ग्रीक शब्द अधिक हों या एंग्लोसेक्सन, दोनों ही अंग्रेजी हैं, उसी भाँति हिंदुस्तानी भी अन्य भाषाओं के शब्दों में मिल जाने से कोई भिन्न भाषा नहीं हो जाती। साधारण बातचीत में तो हम हिंदुस्तानी का व्यवहार करते ही हैं।"[8]

प्रेमचंद ने कौमी भाषा के तौर पर उर्दू, हिंदी और हिंदुस्तानी भाषा के तीनों रूपों का अलग-अलग उदाहरण प्रस्तुत करते हुए हिंदुस्तानी को ही भारत की कौमी भाषा की मान्यता दी है। हालांकि प्रेमचंद अपने समय के समाज की मानसिकता को यथातथ्य समझ रहें थे। उन्होंने लिखा है, "एक तरफ हमारे मौलवी साहबान अरबी और फारसी के शब्द भरते जाते हैं, दूसरी ओर पंडितगण, संस्कृत और के प्राकृत शब्द ठूँस रहे हैं और दोनों भाषाएँ जनता से दूर होती जा रही है। हिंदुओं की खासी तादाद अभी तक उर्दू पढ़ती आ रही है,

लेकिन उनकी तादाद दिन-प्रतिदिन घट रही है। मुसलमानों ने हिंदी से कोई सरोकार रखना छोड़ दिया, तो क्या यह तय समझ लिया जाए कि उत्तर भारत में उर्दू और हिंदी दो भाषाएँ अलग-अलग रहेंगी ? उन्हें अपने-अपने ढंग परअपनी-अपनी

संस्कृति के अनुसार बढ़ने दिया जाए। उनको मिलाने की और इस तरह उन दोनों की प्रगति को रोकने की कोशिश न की जाए ? या ऐसा संभव है कि दोनों भाषाओं को इतना समीप लाया जाए कि उनमें लिपि के सिवा कोई भेद न रहे। बहुमत पहले निश्चय की ओर है। हाँ, कुछ थोड़े से लोग ऐसे भी हैं जिनका खयाल है कि दोनों भाषाओं में एकता लायी जा सकती है और इस बढ़ते हुए फर्क को रोका जा सकता है। लेकिन उनकी आवाज नक्कारखाने में तूती की आवाज है ये लोग हिंदी और उर्दू नामों का व्यवहार नहीं करते, क्योंकि दो नामों का व्यवहार उनके भेद को और मजबूत करता है। यह लोग दोनों को एक नाम से पुकारते हैं और वह हिंदुस्तानी है।"[9]

यह आश्चर्यजनक है कि पहले अयोध्या प्रसाद खत्री, दूसरे प्रेमचंद और तीसरे महात्मा गांधी—इन तीनों ने हिंदुस्तानी भाषा की वकालत की थी, किंतु हमने इन तीनों के सुझाव को न मानकर एक ही भाषा को हिंदी और उर्दू में बाट दिया, उन्हें मजहब से जोड़ दिया और इस तरह दुनिया की सबसे समृद्ध, बड़ी और ताकतवर हिंदी जाति को धर्म के आधार पर दो हिस्सों में बाट कर कमजोर कर दिया और उनके बीच सदा -सदा के लिए असंख्य और - अटूट चौड़ी दिवार खड़ी कर दी।

आज हमने राजभाषा हिंदी और हिंदी साहित्य की भाषा को जिस संस्कृत निष्टता से बोझिल बना दिया है उससे आगाह करते हुए प्रेमचंद ने बहुत पहले ही कहा था, "हिंदी में एक फरीक ऐसा है, जो यह कहता है कि चूंकि हिंदुस्तान की सभी सूबे बाली भाषाएँ संस्कृत से निकली हैं और उनमें संस्कृत के शब्द अधिक है, इसलिए हिंदी

में हमें अधिक - से - अधिक संस्कृत के शब्द लाने चाहिए, ताकि प्रांतों के लोग उसे आसानी से समझें। उर्दू की मिलावट करने से हिंदी का कोई फायदा नहीं। उन मित्रों को मैं यही जवाब देना चाहता हूँ कि ऐसा करने से दूसरे सूबे के लोग चाहे आपकी भाषा समझ लें, लेकिन खुद हिंदी बोलने वाले न समझेंगे। क्योंकि, साधारण हिंदी बोलने वाला आदमी शुद्ध संस्कृत शब्दों का जितना व्यवहार करता है, उससे कही ज्यादा फारसी शब्दों का। हम इस सत्य की ओर से आँखें नहीं बंद कर सकते और फिर इसकी जरूरत ही क्या है कि हम भाषा को पवित्रता की धुन में तोड़- मरोड़ डालें। यह जरूर सच है कि बोलने की भाषा और लिखने की भाषा में कुछ अंतर होता है, लेकिन लिखीत भाषा सदैव बोल-चाल की खूबी कुछ नहीं तो भाषा से मिलते-जुलते रहने की कोशिश किया करती है। लिखीत भाषा की खूबी यही है कि वह बोल – चाल की भाषा से मिले।"[10]

इस संबंध में महात्मा गांधी की सराहना करते हुए प्रेमचंद ने लिखा है, " कितने खेद की बात है कि महात्मा गांधी के सिवा किसी भी दिमाग ने कौमी भाषा की जरूरत नही समझी और उसपर जोड़ नहीं दिया। यह काम कौमी सभाओं का है कि वह कौमी भाषा के प्रचार के लिए इनाम और तमगे दें, उसके लिए विद्यालय खोले, पत्र निकाले और जनता में प्रोपेगैंडा करें। राष्ट्र के रूप में संगठित हुए बगैर हमारा दुनिया में जिंदा रहना मुश्किल है। यकीन के साथ नहीं कहा जा सकता कि इस मंजिल पर पहुँचने की शाही सड़क कौन सी है। मगर दूसरी कौमों के साथ कौमी भाषा को देखकर सिद्ध होता

है कि कौमियत के लिए लाजिमी चीजों में भाषा भी है, और जिसे एक राष्ट्र बनाना है उसे एक कौमी भाषा भी बनानी पड़ेगी।"[11]

प्रेमचंद ने भाषा और लिपि के सवाल पर भी विचार किया है। भाषा और लिपि का संबंध इतना करीबी है कि एक को लेकर दूसरे को नहीं छोड़ा जा सकता। प्रेमचंद लिखते हैं, "केवल लिपि हो जाने से भाषाओं का अंतर कम नहीं होता और हिंदी लिपि में मराठी समझना उतना ही मुश्किल है, जितना मराठी लिपि में। प्रांतीय भाषाओं को हम प्रांतिय लिपि में लिखते जाएँ, कोई ऐतराज नहीं, लेकिन हिंदुस्तानी भाषा के लिए एक लिपि रखना ही सुविधा की बात है, इसलिए नहीं की कि हमें हिंदी लिपि से खास मोह है, बल्कि इसलिए कि हिंदी लिपि का प्रचार बहुत ज्यादा है और उसके सीखने में भी किसी को दिक्कत नहीं हो सकती, लेकिन उर्दू लिपि हिंदी से बिल्कुल जुदा है और जो लोग उर्दू लिपि के आदी हैं, उन्हें हिंदी लिपि का व्यवहार करने के लिए मजबूर नहीं किया जा सकता। अगर जबान एक हो का भेद कोई महत्त्व नहीं रखता।"[12]

भाषा और लिपि के प्रश्न पर प्रेमचंद का निश्कर्ष है, "लिपि का फैसला समय करेगा, जो ज्यादा जानदार है वह आगे आएगी और दूसरी पीछे रह जाएगी। लिपि के भेद का विषय छेड़ना छोड़े के आगे गाड़ी को रखना होगा। हमें इस सर्व को मानकर चलना है कि राष्ट्र लिपियाँ हैं और अख्तियार है, हम चाहे जिस लिपि में उसका (हिंदुस्तानी का) व्यवहार करें।

हमारी सुविधा, हमारी मनोवृत्ति और हमारे संस्कार इसका फैसला करेंगे।"[13] प्रेमचंद्र को विश्वास है कि हम तो केवल यही चाहते हैं कि 'हमारी एक कौमी लिपि हो जाए। दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा, मद्रास के चतुर्थ दीक्षांत समारोह में दीक्षांत भाषण देते हुए उन्होंने कहा था कि "अगर सारा देश नागरी लिपि का ही हो जायेगा तो संभव है मुसलमान भी उस लिपि को कुबूल कर लें। राष्ट्रीय चेतना उन्हें बहुत दिन तक अलग न रहने देंगी।"[14]

निष्कर्ष रूप में हम देखते हैं कि प्रेमचंद के भाषा चिंतन की बुनियाद कौमियत की भावना है। वे एक कौमी भाषा के स्थापन का महत्व समझते थे। इसलिए हिंदी और उर्दू के तमाम महत्व को समझने के बावजूद कौमी भाषा के रूप में उन्होंने 'हिन्दुस्तानी' को प्रस्तावित किया था। यह दीगर बात है कि प्रेमचंद के सुझावों को न मानकर हमने भारत की भाषा-नीति का जो रास्ता चुना उसका परिणाम अच्छा नहीं रहा।

5.3 महात्मा गाँधी का भाषा – चिंतन

महात्मा गाँधी के भाषा – चिंतन को जानने के लिए उनके विचार यात्रा को देखना आवश्यक हो जाता है। महात्मा गाँधी की विचार - यात्रा को दो चरणों में विभाजित करके देखा जा सकता है। पहला चरण है, 1909 से 1935 तक और दूसरा चरण जीवन के अंत तक।

भारत की संपर्क भाषा या राष्ट्र भाषा हिंदी ही हो सकती है ऐसा विचार

महात्मा गांधी के मानस में दक्षिण अफ्रीका के प्रवास के दौरान में आया था। दक्षिण अफ्रीका में भारत के उत्तरी एवं दक्षिणी प्रदेशों से गए हुए विभिन्न भाषा- भाषी गिरमिटिया मजदूरों तथा कारोबारियों के निकट संपर्क में रहते हुए गांधी जी ने यह समझा था कि भारत के बहुभाषा भाषी प्रदेशों के बीच अगर कोई संपर्क भाषा होने के योग्य है तो वह हिंदी ही है। उन्होंने दक्षिण अफ्रीका में रहते हुए अपनी लिखी पुस्तक **'हिंद स्वराज'** में इस बात का जिक्र किया है। "हिंद-स्वराज' के 'शिक्षा' शीर्षक प्रकरण में गांधी जी ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है हर एक पढ़े- लिखे हिंदुस्तानी को अपनी भाषा का हिंदू को संस्कृत का, मुसलमान को अरबी का, पारसी को फारसी का और सबको हिंदी का ज्ञान होना चाहिए। कुछ हिंदुओं को अरबी और कुछ मुसलमानों और पारसियों को संस्कृत सीखनी चाहिए। सारे हिंदुस्तान के लिए जो भाषा चाहिए वह तो हिंदी ही होनी चाहिए। उसे उर्दू या नागरी लिपि में लिखने की छूट रहनी चाहिए। हिंदू-मुसलमानों के संबंध ठीक रहें, इसलिए बहुत से हिंदुस्तानियों को इन दोनों लिपियों को जान लेना जरूरी है।”[15]

09 जनवरी, 1925 को गाँधीजी का दक्षिण अफ्रीका से भारत आगमन हुआ। यहाँ आकर वे हिंदी को सम्पर्क भाषा के रूप में स्थापित करने के काम में लग गए। यहाँ एक बात पर विशेष ध्यान देने की है कि गाँधीजी ने सत्याग्रह की शुरुआत 1920 में असहयोग आंदोलन से किया लेकिन राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी का अखिल भारतीय स्तर पर प्रचार उन्होंने उसके पहले ही शुरू कर दिया था।15 अक्टूबर 1917 को बिहार के भागलपुर शहर में छात्रों के एक सम्मेलन को संबोधित करते हुए गाँधीजी ने कहा,

आज मुझे अध्यक्ष का पद देकर और हिंदी में व्याख्यान देने और सम्मेलन का काम हिंदी में चलाने की अनुमति देकर आप विद्यार्थियों ने मेरे प्रति अपने प्रेम का परिचय दिया है।... इस सम्मेलन का काम प्रांत की भाषा में ही- और वही राष्ट्रभाषा भी है- करने का निश्चय करके आपने दुरन्देशी से काम लिया है। इसके लिए मैं आपको बधाई देता हूँ। मुझे आशा है कि आप लोग यह प्रथा जारी रखेंगे।[16]

उपर्युक्त व्याख्यान में ही गाँधीजी ने यह साफ कर दिया था कि बिहार प्रांत की भाषा हिंदी है जो वहाँ की मातृभाषा भी है और वही राष्ट्र भाषा है। अप्रैल, 1917 से ही भोजपुरी क्षेत्र चंपारण में निलहे अंग्रेजों के खिलाफ सत्याग्रह करने वाले गांधी जी जरूर अवगत होंगे कि इस इलाके में भोजपुरी, बज्जिका या मैथिली जैसी भी बोलियाँ हैं, लेकिन उन सब बोलियों को उन्होंने हिंदी के अंतर्गत स्वीकार किया और हिंदी को बिहार प्रांत की भाषा कहा साथ ही उसे राष्ट्र भाषा की संज्ञा से विभूषित भी किया। यहाँ तक आते-आते गांधी जी हिंदी के लिए संपर्क भाषा के बजाए राष्ट्रभाषा का प्रयोग करने लगे थे।

20 अक्टूबर1917 को गुजरात के भड़ौच में हुए द्वितीय शिक्षा सम्मेलन में गांधीजी ने अंग्रेजी को राष्ट्र भाषा बनाने के तर्कों को खारिज करते हुए कहा, "हम जरा गहराई से देखें तो पता चलेगा कि अंग्रेजी राष्ट्रभाषा नहीं बन सकती और न उसका प्रयत्न किया जाना चाहिए। तब राष्ट्रभाषा के क्या लक्षण होने चाहिए, इस पर विचार करें :-

1. वह भाषा सरकारी नौकरों के लिए आसान होनी चाहिए।

2. उस भाषा के द्वारा भारत का आपसी धार्मिक, आर्थिक और राजनीतिक कामकाज शक्य होना चाहिए।
3. उस भाषा को भारत के ज्यादातर लोग बोलते हों
4. वह भाषा राष्ट्र के लिए आसान होनी चाहिए।
5. उस भाषा का विचार करते समय क्षणिक या अस्थायी स्थिति पर जोर न दिया जाए।

अंग्रेजी भाषा में इनमें से एक भी लक्षण नहीं है।... यह माने बिना काम चल ही नही सकता कि हिंदी भाषा में ये सारे लक्षण मौजूद हैं। हिंदी भाषा मैं उसे कहता हूँ जिसे उत्तर भारत में हिंदू और मुसलमान बोलते है और देवनागरी या फारसी लिपि में लिखते हैं।

11 नवंबर, 1913 को बिहार के मुजफ्फरपुर में भाषण देते हुए गांधी जी ने कहा, 'मैं कहता आया हूँ कि राष्ट्रीय भाषा एक होनी चाहिए और वह हिंदी होनी चाहिए। हिंदी भाषा से मेरा मतलब उस भाषा से है जिसे उत्तर भारत में हिंदू और मुसलमान दोनों बोलते हैं और जो नागरी तथा उर्दू लिपि में लिखी जाती है।' इसके बाद 31 दिसंबर, 1917 को कलकत्ता के विश्व विद्यालय भवन में 'बाम्बे एण्ड बंगाल ह्यूमैनिटेरियन फण्ड्स' के तत्वावधान में आयोजित सभा की अध्यक्षता करते हुए गांधीजी ने कहा, देशसेवा करने के लिए उत्सुक सब हैं, परंतु राष्ट्र सेवा तब-तक संभव

नहीं जब तक कोई राष्ट्र भाषा का प्रयोग न हो। दुःख की बात है कि हमारे बंगाली भाई राष्ट्रभाषा का प्रयोग न करके राष्ट्रीय हत्या कर रहे हैं। इसके बिना देश की आम जनता के हृदय तक नहीं पहुंचा जा सकता। इस अर्थ में बहुत लोगों द्वारा हिंदी को काम में लाया जाना मानवतावाद के क्षेत्र की बात हो जाती है।'[17]

यहाँ रेखांकित करने की आवश्यकता - है कि 'राष्ट्रभाषा का प्रयोग न करके राष्ट्रीय हत्या तथा उसे 'मानवतावाद के क्षेत्र की बात' कहनेवाले गांधीजी संभवत: प्रथम भारतीय राजनेता हैं। अब उनका ध्यान हिंदी को संपर्क भाषा के बजाए राष्ट्रभाषा स्थापन पर था। राष्ट्र सेवा के लिए राष्ट्रभाषा हिंदी के सीखने की अनिवार्यता पर जोर देते हुए हिंदी सीखने के कार्य को वे देश सेवा का पर्याय बनाते गये। उनके राष्ट्रभाषा हिंदी के प्रति उमड़ते उत्साह एवं हार्दिक प्रेम को देखते हुए उन्हे मार्च, 1918 में इंदौर में आयोजित हिंदी साहित्य-सम्मेलन का अध्यक्ष बनाया गया। अपने अध्यक्षीय व्याख्यान में गांधीजी ने पुनः इस बात पर बल कि दिया कि 'हमे अब अपनी मातृभाषा की उपेक्षा करके उसकी हत्या नहीं करनी चाहिए जैसे अंग्रेज अपनी मादरी जबान अंग्रेजी में बोलते हैं और उसे ही व्यवहार में लाते हैं, वैसे ही मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ कि को भारत की राष्ट्र भाषा बनने का आप हिंदी को भारत की राष्ट्रभाषा बनने का गौरव प्रदान करें। हिंदी सब समझते हैं। इसे राष्ट्रभाषा बनाकर हमें अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिए।' इसी व्याख्यान में उन्होंने हिंदी की अनिवार्यता के पक्ष में यहाँ तक कहा कि "यदि हमे स्वराज का आदर्श पूरा करना है तो हमे एक ऐसी भाषा की जरूरत पड़ेगी ही जिसे देश की विशाल जनता आसानी से समझ और सीख सके। ऐसी

भाषा सदा से हिंदी या उर्दू ही रही है मुझे मद्रास प्रांत की जनता की देशभक्ति, आत्म त्याग और बुद्धिमत्ता पर काफी भरोसा है। मैं जानता हूँ कि जो भी लोग राष्ट्र की सेवा करना चाहेंगे या अन्य प्रांतों के साथ संपर्क रखना चाहेंगे, उनको त्याग करना ही पड़ेगा, यदि हिंदी सीखने को त्याग ही माना जाए।[18]

इस तरह हम देखते हैं कि 1920ई० में देशव्यापी ब्रिटिश राज के विरुद्ध असहयोग आंदोलन शुरू करने के पूर्व से गांधीजी राष्ट्रभाषा के पक्ष में जन - जागरण का कार्य शुरू कर चुके थे और 'भारतेंदु युग के हिंदी नवजागरण' का विस्तार दक्षिण प्रांत तक करने में लगे थे। यहाँ यह तथ्य भी गौर करने योग्य है कि गांधीजी राष्ट्र भाषा के लिए लगातार 'हिंदी' शब्द का ही प्रयोग कर रहे थे, न कि हिंदुस्तानी शब्द का। इंदौर साहित्य सम्मेलन के तुरंत बाद ही 'दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा' का गठन हुआ। गांधीजी ने राष्ट्रभाषा हिंदी के सवाल को स्वराज का अभिन्न अंग बनाते हुए स्वराज के लिए किए जाने वाले त्याग के समकक्ष हिंदी सीखने के कार्य को ला खड़ा किया। उनके इन उच्चतम प्रयासों का ही फल था कि हिंदी के प्रति उदासीन रहनेवाले लोकमान्य बाल गांगाधर तिलक, गुरुदेव रवींद्रनाथ ठाकुर आदि भी हिंदी सीखने लगें। राष्ट्र भाषा के रूप में हिंदी को इतनी अहमियत गांधीजी के पहले किसी ने नहीं दी थी। उदाहरण के लिए, 13 सितंबर 1920 को कलकता में भाषण देते हुए उन्होंने कहा, 'यह निश्चित है कि सारे देश में जहाँ कहीं देश के विभिन्न हिस्सों में लोगों की मिली-जुली सभाएँ और बैठकें होंगी, उनमें अभिव्यक्ति का राष्ट्रीय माध्यम हिंदी ही होगी।

मार्च, 1922 में गांधीजी ने असहयोग आंदोलन को स्थगित कर दिया, हालांकि राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी के प्रचार का कार्य स्थगित नहीं किया गया, वह अनवरत चलता ही रहा। 24 मार्च, 1925 को 'हिंदी प्रचार कार्यालय, मद्रास' में बोलते हुए, गांधीजी ने यह कहा, 'मेरी राय में भारत सच्ची राष्ट्रीयता के विकास के लिए हिंदी का प्रचार एक जरूरी बात है विशेष रूप से इसलिए कि हमे उस राष्ट्रीयता को आम जनता के अनुरूप सांचे में ढालना है।' मद्रास में ही आयोजित 20 दिसंबर, 1933 को एक छात्र सभा को संबोधित करते गांधीजी ने हुए कहा, मैं इस चेतावनी के साथ अपना भाषण समाप्र करता हूँ कि जब आप अपने कंधों पर देश का भार संभालेंगे, उस समय यदि आपको हिंदी या हिंदुस्तानी न आती हुई हो तो आपको बहुत बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ेगा।' इसीतरह 21 दिसंबर, 1933 को श्री पेराम्बदूर की मजदूर सभा में गांधीजी ने कहा, ‘साथी मजदूरों! यदि आप सारे भारत के मजदूरों दुःख-सुख को बाटना चाहते हैं उसके साथ तादात्म्य स्थापित करना चाहते हैं, तो आपको हिंदुस्तानी सीख लेनी चाहिए। जबतक आप ऐसा नहीं करते तब तक उत्तर और दक्षिण में कोई से मेल नहीं हो सकता।

उपर्युक्त अंतिम दोनों भाषणों में गांधीजी को हम 'हिंदुस्तानी' शब्द का प्रयोग करते देखते हैं, हालांकि 'हिंदुस्तानी' का प्रयोग वे हिंदी के अर्थ में ही करते थे।

अप्रैल, 1935 में इंदौर में सम्पन्न हुए 24वें हिंदी साहित्य सम्मेलन में सभापति

के रूप में भाषण देते हुए गांधीजी ने यह कहा, 'अगर हिंदुस्तान को सचमुच एक राष्ट्र बनाना है तो चाहे कोई माने या न माने, राष्ट्र भाषा तो हिंदी ही बन सकती हैं, क्योंकि जो स्थान हिंदी को प्राप्त है, वह किसी दूसरी भाषा को कभी नहीं मिल सकता। हिंदू-मुसलमान दोनों को मिलाकर करीब 22 करोड़ मनुष्यों की भाषा थोड़े-बहुत फेरफार से हिंदी- हिंदुस्तानी ही है। मैंने अभी हिंदी - हिंदुस्तानी शब्द का प्रयोग किया है। सन् 1918 में जब आपने मुझको यही पद दिया था तब भी मैंने यही कहा था कि हिंदी उस भाषा का नाम है जिसे हिंदू और मुसलमान कुदरती तौर पर बगैर प्रयत्न के बोलते हैं हिंदुस्तानी और उर्दू में कोई फर्क ही नहीं है देवनागरी लिपि में लिखे जाने पर वह हिंदी और फारसी लिपि में लिखे जाने पर उर्दू कही जाती है।'

निष्कर्षत: देखा जाए तो गांधीजी 1909 (हिंद स्वराज' का प्रकाशन वर्ष) से 1935 ई0 तक राष्ट्र भाषा के लिए हिंदी शब्द का ही प्रयोग करते रहें। हालांकि इस दौरान उन्होंने हिंदी के साथ कभी कभी हिंदुस्तानी शब्द का भी प्रयोग किया था, किंतु तब उनका आशय इन दोनों शब्दों से एक ही भाषा हिंदी का होता था।

वर्ष 1936 से महात्मा गांधी की विचार-यात्रा का दूसरा चरण शुरू होता है। इस दूसरे चरण में गांधीजी हिंदी और हिंदुस्तानी को अलग-अलग मानते हुए राष्ट्रभाषा के लिए हिंदुस्तानी के पक्ष में झुकते चले जाते हैं। यहाँ यह रेखांकित करना आवश्यक है कि हिंदुस्तानी के पक्ष में जाना गांधी जी की स्वेच्छा नहीं थी, अपितु उस समय की उन परिस्थितियों का दबाव था जब कुछ कट्टरपंथी मुस्लिम बुद्धिजीवि गांधीजी को पत्र

लिखकर हिंदी की जगह हिंदुस्तानी भाषा कहते - अपनाने का दबाव बना रहे थे एक मुसलमान मित्र का पत्र गांधीजी ने 16 मई, 1936 को 'हरिजन सेवक' में प्रकाशित किया। उस पत्र के कुछ अंश द्रष्टव्य है, 'अगर हमारी कौमी जबान उर्दू नहीं कहला सकती तो कम- अज- कम उसका नाम ऐसा होना चाहिए जिससे जाहिर हो कि मुसलमानों ने एक ऐसी जबान बनाने की कोशिश की जो करीब-करीब कौमी जबान कही जा सकती है। हिंदुस्तानी से यह मतलब पूरा हो सकता है, हिंदी से नहीं हो सकता।... अदबी हैसियत के अलावा हिंदी की एक मजहबी और तहजीबी हैसियत है, जिसे मुसलमानों की पूरी जमात अपना नहीं सकती"।

इस तरह के शिकायती पत्रों से उस समय के शिक्षित मुस्लिम समाज के उस मिजाज का पता चलता है जो हिंदी को हिंदुओं की मजहबी जबान मानकर हिंदुस्तानी को ही साझी भाषा समझने लगा था। ऐसी परिस्थितियों को देखते हुए राष्ट्रीय आंदोलन की सफलता के लिए और हिंदु-मुस्लिम एकता बनाए रखने की नीयत से गांधीजी को हिंदी की जगह हिंदुस्तानी शब्द का प्रयोग करने तथा हिंदुस्तानी को हिंदी से पृथक भाषा मानने को बाध्य होना पड़ा।

गांधीजी हिंदू- मुस्लिम एकता को प्राथमिकता देते हुए हिंदी के प्रति व्याप्त इस सांप्रदायिक दृष्टिकोण से मुकाबला नहीं कर सके और मजबूर होकर हिंदुस्तानी के पक्ष में खड़े हो गए।

हिन्दुस्तानी के मसले पर विवाद लगातार बढ़ता ही गया। विवाद इतना अधिक

बढ़ गया कि गाँधीजी को 'हिंदी साहित्य सम्मेलन' से अलग होना पड़ा। इस आशय का पत्र उन्होंने पुरुषोतम दास टंडन को 13 जून, 1945 को लिखा। इस पत्र में गाँधीजी ने अपनी पीड़ा और इच्छा इन शब्दों में व्यक्त की थी - 'हिंदी साहित्य सम्मेलन से निकलना मेरे लिए कोई मजाक की बात नहीं है लेकिन जैसे मैं काँग्रेस से निकला, तो कांग्रेस की ज्यादा सेवा करने के लिए उसी तरह अगर मैं सम्मेलन से भी निकला तो सम्मेलन की अर्थात् हिंदी की ज्यादा सेवा करने के लिए निकलूंगा।'

गाँधीजी के उपर्युक्त पत्र से यह निष्कर्ष निकलता है कि गांधीजी का भाषा- -चिंतन सदैव राष्ट्रभाषा हिंदी के पक्ष में रहा है। यद्यपि राजनीतिक कारणों से मजबूरी में उन्होंने हिंदुस्तानी का पक्ष लिया। गांधीजी अगर 'हिंदी की ज्यादा सेवा करने' की बात कह रहे थे तो इससे स्वष्ट है कि वे एक मजहवी जबान की सेवा की बात नहीं कर रहे थे। यह बहुत दुर्भाग्यपूर्ण है कि हिंदू-मुस्लिम की एकता की खातिर हिंदी को कुर्बान करने के बावजूद मजहबी आधार पर भारत का विभाजन नहीं रोक सके।

संदर्भ-संकेत

1. सिंह, केदारनाथ; उद्धृत, दिविक रमेश; नये कवियों के काव्य-शिल्प सिद्धांत; पृ. 177.
2. सिंह, नामवर; छायावाद; पृ. 118.
3. प्रेमचंद ; साहित्य का उद्देश्य, पृ. 118.
4. वहीं; पृ. 121.
5. वहीं; पृ. 121.
6. वहीं; पृ. 122.
7. वहीं; पृ. 124.
8. वहीं; पृ. 124.
9. वहीं; पृ. 139.('हिंदी – उर्दू एकता' शीर्षक निबंध से)
10. वहीं; पृ. 128.
11. वहीं; पृ. 132.
12. वहीं; पृ. 132.
13. वहीं; पृ. 133.
14. वहीं; पृ. 117.
15. गांधी, महात्मा; हिंद स्वराज; शिक्षा प्रकरण से उद्धृत।

उपसंहार

भारत के संदर्भ में हिंदी भाषा संबंधी विवाद मुख्य रूप से अंग्रेजों की देन है। यद्यपि अंग्रेज शासकों के भारत पर शासन से पहले भी यहाँ भाषा विवाद की स्थिति विद्यमान थी, किंतु उसमें इतनी कटुता भीषणता एवं सामाजिक वैमनस्य नहीं था। मुस्लिम शासन काल में शासकों ने अपनी भाषा जरूर आरोपित की थी, किंतु उन्होंने भारत के स्थानीय भाषाओं की अंग्रेजों के समान उपेक्षा नहीं की थी। मुसलमान शासकों ने भारत की स्थानीय भाषाओं को कमोवेश संरक्षित एवं प्रोत्साहित करने का प्रयास किया था। नुसरतशाह द्वारा बांग्ला भाषा को प्रोत्साहित करना और अकबर तथा अन्य मुगल शासकों के दरबार में हिंदी कवियों की उपस्थिति इस बात की पुष्टि करती है। अबुलफज़ल, दाराशिकोह तथा मोहसिनफ़ानी जैसे उदार मुस्लिम विद्वानों ने भारत के बहुसंख्य हिंदू लोगों के जीवन, दर्शन एवं धर्म में गहरी रूचि ली तथा इस्लामी दुनियाँ को हिंदुओं से परिचय कराया। अंग्रेजों के भारत पर शासन स्थापित हो जाने के बाद यह प्रक्रिया धीरे-धीरे टूट गयी अंग्रेजों ने शासकीय सुविधा के लिहाज से यथास्थिति को लगभग बनाए रखा किंतु स्वयं को श्रेष्ठ एवं भारतीय ज्ञान को दोयम समझने की भावना ने उन्हें भारतीय धर्म, साहित्य और भाषा के प्रति अनुदार बना दिया था।

उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में प्राच्यवादी एवं आंग्लवादी विद्वानों के बीच विवाद का आधार ठोस नहीं था, इसमें केवल ऊपरी तौर पर ही भारत की भाषा-समस्या का

विश्लेषण किया गया था। टॉम्सन जैसे प्रशासकों ने पश्चिमोत्तर प्रांत के भाषा विवाद को सही रूप में समझा अवश्य था, लेकिन ईस्ट इंडिया कम्पनी की सरकार भाषा-नीति में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं करना चाहती थी। चार्ल्सवुड डिस्पैच ने भाषा विवाद में देशी भाषाओं के महत्त्व को स्थापित अवश्य किया था, किंतु उसने देशी भाषाओं के आपसी विवाद को सुलझाने में कोई भूमिका नहीं निभायी थी।

यद्यपि हिंदी-उर्दू विवाद के बीज जॉन गिलक्राइस्ट और दूसरे अंग्रेज लेखकों के कार्यों में दिखाई देते है, परंतु इसका मुखर रूप 1857 ई. की क्रांति के बाद प्रकट हुआ। आरंभ में विवाद का मुख्य मुद्दा फ़ारसी लिपि और अरबी-फ़ारसी के कठिन शब्दों के इस्तेमाल तक ही सीमित था किंतु लम्बे समय तक लिपि को भाषा से अलग करके नहीं देखा जा सका, इसलिए लिपि का विवाद अंततः भाषा का विवाद बन गया।

हिंदी-उर्दू के उद्भव के कई सौ वर्षों बाद तक उनमें कोई आपसी द्वंद्व नहीं था। हिंदी हिंदुओं के साथ और उर्दू मुसलमानों के साथ नत्थी नहीं थी और न ही इसे अलग-अलग कौमी जवानों की तरह लिया जाता था। हिंदी और उर्दू की लिपि अलग-अलग थी, किंतु लिपि के कारण भाषा में कोई दरार पैदा नहीं हुई थी। ब्रिटिश सरकार की कोशिशों से हिंदू-मुस्लिम धर्मों में परस्पर साम्प्रदायिकता के अनेक स्तर पैदा हुए जिनमें समय के साथ विस्तार एवं गहरायी आयी। हिंदू-उर्दू विवाद भी उन्हीं स्तरों में से एक है।

1857 ई. के प्रथम स्वाधीनता संग्राम (विद्रोह) में हिंदू और मुसलमानों की एकता एवं मैत्री भाव ने अंग्रेजों को आशंकित कर दिया था। उसके बाद से ब्रिटिश

सरकार ने 'बांटो और राज करो' की नीति के सुनियोजित षड्यंत्र की प्रक्रिया प्रारंभ कर दी थी। यद्यपि 1858 ई. के महारानी विक्टोरिया के घोषणा पत्र में यह आश्वासन दिया गया था कि सरकार किसी भी प्रकार का जाति, धर्म, राष्ट्रीयता तथा वर्ण का भेद-भाव नहीं करेगी, तथापि तथ्य यह है कि हिंदू और मुसलमानों के साथ ब्रिटिश सरकार ने एक समान व्यवहार कभी नहीं किया। 1857 ई. के विद्रोह में मुसलमानों की भूमिका अग्रगण्य थी, हालांकि हिंदू भी उनके संग-संग ही थे, किंतु विद्रोह के ठीक बाद अंग्रेजी सरकार ने जिस तरह मुसलमानों पर अपना कोप प्रकट किया, सैकड़ों मुसलमानों को सरेआम फांसी दी गई, लेकिन इसके मुखालफत में हिंदू समाज मुखर रूप से सामने नहीं आया। इससे अंग्रेजों को यह विश्वास हो गया कि भले ही हिंदू और मुसलमान एक मकसद के लिए विद्रोह किये हों, किंतु उनमें कुछ बुनियादी अविश्वास की भावना है अतः अंग्रेजों ने यह निष्कर्ष निकाला कि यदि अंग्रेजी सत्ता को भारत में लम्बे समय तक बनाये रखना है तो हिंदू और मुसलमानों के बीच की एकता को हमेशा खंडित रखना होगा। कालांतर में सैयद अहमद खान के भारतीय राजनीति में आने के बाद मुसलमानों पर विशेष सरकारी अनुकम्पा की नीति अपनायी गयी जो देश के विभाजन (1947 ई.) तक एकाध व्यवधान को छोड़कर अनवरत रूप से चलती रही। हिंदुओं की तुलना में मुसलमानों को राजकीय सेवाओं में अधिक स्थान मिले। मुस्लिम शिक्षा संस्थानों को हिंदुओं के शिक्षा संस्थानों की तुलना में अधिक अनुदान दिया गया, हिंदी की तुलना में उर्दू को अधिक सरकारी संरक्षण प्राप्त हुआ और मुसलमानों के

राजनैतिक महत्त्व को उनकी संख्या के अनुपात से बहुत अधिक महत्त्व दिया गया। परिणामस्वरूप यह स्वाभाविक ही था कि हिंदुओं में आक्रोश की भावना जन्मी और इसी आक्रोश का एक अंग अपनी भाषा की प्रतिष्ठा और राजकीय मान्यता के लिए किया गया उनका आंदोलन था। वास्तव में, मुस्लिम सत्ता की समाप्ति के बाद ब्रिटिश शासन काल में राजभाषा के खाली स्थान को पाने के लिए हिंदी-उर्दू में परस्पर संघर्ष आरंभ हुआ। एक ओर हिंदू जनता मुस्लिम शासन से मुक्ति पाकर उनके सांस्कृतिक अवशेषों से भी स्वयं को मुक्त कर लेना चाहता था, दूसरी ओर मुस्लिम वर्ग अपनी सत्ता के हाथ से निकल जाने पर अंग्रेज शासकों के समीप रहकर उनका प्रश्रय प्राप्त करने की हर संभव कोशिश कर रहा था, ताकि सत्ता की भागीदारी का लाभ उठाया जा सके।

भाषाशास्त्रियों के माध्यम से सरकार ने हिंदी-उर्दू विवाद को उग्र बनाकर हिंदू और मुसलमानों के बीच विभेद बढ़ाने में योगदान दिया था और इस तरह से भाषा के मसले में भी उन्होंने 'बाँटों और राज करो' की नीति का अभ्यास किया था। हिंदी-उर्दू विवाद ने हिंदू और मुसलमानों के मध्य कटुता तो उत्पन्न की ही, साथ-ही-साथ उनमें भाषा के प्रति ब्रिटिश सरकार की ढुलमुल नीति के कारण ब्रिटिश न्यायप्रियता और निष्पक्षता के प्रति संदेह की भावना भी जाग्रत कर दी। इस भाषा विवाद ने दोनों समुदायों में राजनीतिक जागृति को विकसित करने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी।18 अप्रैल, 1900 ई. के हिंदी रिजोल्यूशन के पारित होने के बाद मुसलमानों में अंग्रेज शासकों के खिलाफ राजनीतिक आंदोलन करने की भावना का विकास होने लगा

था। भाषा विवाद के कारण दोनों भाषाओं के साहित्यकारों और पत्रकारों ने अपनी-अपनी भाषा के साहित्य और पत्रकारिता को समृद्ध व श्रेष्ठ साबित करने की विशेष परिस्थितियाँ उत्पन्न की।

भारतेंदुयुगीन हिंदी साहित्यकारों एवं पत्रकारों ने उन्नीसवीं सदी के भाषा विवाद में जब हिंदी का पक्ष लिया था, तब हिंदी की स्थिति बहुत कमजोर थी इस काल तक हिंदी साहित्य में दरबारी काव्य परंपरा के अवशेष मौजूद थे। हिंदी गद्य अपनी शैशवकाल की अनिश्चितता से डगमगा रहा था। साहित्य में गद्य और पद्य की भाषा की अनेक शैलियाँ प्रचलित थीं। इस दौर में शासकों के द्वारा हिंदी को न तो अदालतों में प्रवेश दिया गया था, न ही सरकारी दफ्तरों में उसे कोई स्थान मिला था। सरकारी सेवाओं में हिंदी का ज्ञान आवश्यक न होने के कारण कोई उसे सीखने का इच्छुक भी नहीं था। फ़ारसी के बाद केवल उर्दू की ही प्रतिष्ठा थी, जिसे ब्रिटिश शासकों ने फ़ारसी का उत्तराधिकारी मान लिया था। उर्दू को समाज में शालीनता और परिष्कार का प्रमाण माना जाता था, इसे देशीय राजभाषा होने का गौरव प्राप्त था, साथ ही उर्दू के साहित्य को उच्च कोटि का माना जाता था। यह आश्चर्यजनक है कि उर्दू में विभिन्न भाषा शैलियों का कोई विवाद नहीं था। उर्दू पढ़ना या बोलना समाज में आदर प्राप्त करने के लिए आवश्यक था, स्वयं अनेक प्रमुख हिंदी साहित्यकार उर्दू प्रशिक्षण के कठिन दौर से गुजर कर इसमें प्रवीणता प्राप्त कर चुके थें। भारतेंदु, हरिश्चंद्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, श्रीधर पाठक, बालमुकुंद गुप्त, महावीर

प्रसाद द्विवेदी आदि सभी प्रमुख हिंदी साहित्यकार व पत्रकार उर्दू के विद्वान थे और उनमें से प्रायः सभी ने उर्दू में रचनाएँ भी की थीं।

भाषा विवाद के दौरान हिंदी का पक्ष कमजोर करने के लिए यह आरोप लगाये गये थे कि उसमें न तो प्रशासनिक या न्याय की भाषा बनने की क्षमता है और न ही उसमें शिक्षा के लिए उपयोगी पाठ्य-पुस्तकें हैं। हिंदी साहित्य भी साहित्य की अनेक विधाओं में रचनाशून्य है। इन आरोपों को असत्य सिद्ध करना भारतेंदुयुगीन साहित्यकारों ने अपना लक्ष्य बना लिया था। भारतेंदु से लेकर बालमुकुंद गुप्त तक के अनेक हिंदी साहित्यकारों ने अपनी रचना-साधना से हिंदी साहित्य की समृद्धिहीनता के अभाव को समाप्त कर दिया था। पंजाब में हिंदी की प्रतिष्ठा और भाषा विवाद में हिंदी समर्थकों के आंदोलन को आक्रामक बनाने में आर्य समाज ने विशेष भूमिका निभायी। स्वामी दयानंद सरस्वती ने आर्य समाज के उपनियम में हिंदी के प्रचार और आर्य समाजियों में हिंदी के ज्ञान को अनिवार्य कर दिया था। आर्य भाषा और आर्य लिपि को उन्होंने आर्य जाति, आर्य संस्कृति एवं आर्य धर्म से जोड़ दिया था। आर्य समाज के उत्साही कार्यकर्त्ताओं की सेवा से भाषा विवाद में हिंदी की स्थिति बहुत मजबूत हो गयी थी।

भारतेंदुयुगीन हिंदी साहित्यकारों व पत्रकारों पर हिंदू राष्ट्रवाद की भावना को प्रसारित करने का आरोप लगाया जाता है। इसके प्रमाण में अनेक उद्धरणों को भी प्रस्तुत किया जाता है, किंतु इस तथ्य को नज़रंदाज कर दिया जाता है कि इन साहित्यकारों और पत्रकारों ने हिंदू धर्म, हिंदू राष्ट्र, हिंदू जाति, हिंदू संस्कृति और

हिंदुओं की भाषा तथा लिपि की बात किन परिस्थितियों में की थी, वास्तविकता यह है कि अपने ही जन्मभूमि, मातृभूमि, भारतभूमि में सदियों से गुलाम हिंदू अपनी भाषा की उपेक्षा और अपमान उसका देखकर दुखी हो चुके थे। महारानी विक्टोरिया के तथाकथित उदार एवं निष्पक्ष शासन में भी उन्हें अपनी भाषा के माध्यम से अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष करना पड़ा। हंटर आयोग के द्वारा यह स्वीकार करने के बाद भी कि पश्चिमोत्तर प्रांत में हिंदी की मांग अत्यंत प्रबल एवं जायज है; फिर भी सरकार द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में उर्दू को ही प्रचलित रखना तथा उर्दू व अंग्रेजी सुलेख के लिए विद्यालयों में पुरस्कार की व्यवस्था करना, परंतु हिंदी के लिए ऐसी ही व्यवस्था की मांग को अस्वीकार करना; देशी भाषा के रूप में केवल उर्दू को सरकारी मान्यता मिलना, बहुसंख्यक हिंदुओं के ऊपर मुट्ठीभर अंग्रेजों और अल्पसंख्यक मुसलमानों की भाषाओं का थोपा जाना आदि ऐसे कार्य थे जिनसे कोई भी हिंदी भाषी संयत और शांत होकर हिंदी के प्रचलन की बात नहीं कर सकता था। ब्रिटिश शासन द्वारा एकतरफा उर्दू के प्रति पक्षपात और हिंदी के दमन के नक्कारखाने में हिंदी भाषियों की तूती आवाज को कोई नहीं सुन रहा था। ऐसी परिस्थिति में बहरे शासकों तक अपनी बात पहुंचाने के लिए किसी बड़े धमाके की जरूरत थी। यही धमाका हिंदी समर्थकों ने हिंदी आंदोलन को धार्मिक बनाकर किया था।

उन्नीसवीं सदी के अंत में (18 अप्रैल, 1900 ई.) अथक प्रयासों के बाद हिंदी साहित्यकारों व पत्रकारों को हिंदी को राजकीय मान्यता दिलाने में सफलता प्राप्त हुई।

अब नागरिकों को अदालतों तथा सरकारी दफ्तरों में नागरी लिपि में याचिका प्रस्तुत करने का अधिकार मिल गया था। ब्रिटिश सरकार द्वारा फ़ारसी लिपि और नागरी लिपि को न्याय और प्रशासन में एक समान महत्त्व दिये जाने की दिशा में यह युगांतकारी प्रयास था। वास्तव में इस परिवर्तन का मुख्य कारण यह था कि सरकार की उन्नीसवीं सदी की भाषा विषयक नीति सर्वथा अव्यावहारिक, दोषपूर्ण व अंसतुलित थी। एक क्षेत्र की दो प्रमुख भाषाओं में से एक की सर्वथा उपेक्षा की नीति अनवरत जारी नहीं रह सकती थी, कभी-न-कभी इस कृत्रिम व्यवस्था और असंतुलित भाषा-नीति का अंत होना ही था। इसके प्रतिक्रिया में मुस्लिमों द्वारा 'उर्दू डिफेन्स एसोसिएशन' का गठन किया गया जिसका उद्देश्य उर्दू के अधिकारों की रक्षा करना था। हिंदी को अधिकार दिये जाने की बात मुस्लिम समुदाय बर्दास्त नहीं कर पा रहा था। उनके मन में यह डर बैठ गया था कि यह मुसलमानों की भाषा के साथ-साथ उनकी अस्मिता पर आसन्न संकट है। इसके प्रतिक्रिया स्वरूप 1906 ई. में मुस्लिम लीग जैसा अलगाववादी संगठन अस्तित्व में आया, जिसने द्विराष्ट्र के सिद्धांत को प्रचारित कर 1947 ई. में पाकिस्तान के रूप में अपने मंसूबे को अमली जामा पहनाया।

उन्नीसवीं सदी के अंतिम दौर में हिंदी साहित्य में एक अजीब किस्म का विभाजन चल रहा था। विभाजन यह था कि गद्य तो खड़ी बोली में लिखा जाता था, लेकिन पद्य ब्रज भाषा में। तद्युगीन बड़े-बड़े साहित्यकार भी इस विभाजन को अतार्किक नहीं समझते थे, बल्कि वे इसे बिल्कुल उचित और स्वाभाविक मानते थें।

हिंदी में अयोध्या प्रसाद खत्री पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इस विभाजन की अस्वाभाविकता की ओर ध्यान दिया और इससे हिंदी के साहित्यिक विकास में होने वाली बाधा को पहचाना। अयोध्या प्रसाद खत्री ने ब्रजभाषा कविता को खड़ी बोली हिंदी कविता मानने से इंकार कर दिया। इससे भारतेंदु मंडल के कई बड़े साहित्यकार उनके विरोधी हो गए। अयोध्या प्रसाद खत्री सिर्फ खड़ी बोली में कविता करने की बात नहीं कर रहे थे; वे यह भी कह रहे थे कि उर्दू और हिंदी दोनों एक ही भाषा है, एक ही खड़ी बोली के दो साहित्यिक रूप हैं। इसलिए मुसलमान इस भाषा को एक अलग लिपि (फ़ारसी लिपि) में लिखने का आग्रह छोड़ दें और हिंदू इसमें सिर्फ संस्कृत से शब्द लेने और अरबी-फारसी के न लेने का आग्रह छोड़ दें। दरअसल हिंदी एवं उर्दू तथा देवनागरी एवं फ़ारसी लिपि के विवाद का संबंध साहित्य की अपेक्षा राजनीति से अधिक था, किंतु इसके विपरीत ब्रजभाषा और खड़ी बोली के विवाद का संबंध राजनीति की अपेक्षा साहित्य से अधिक था। भारतेंदु मंडल के रचनाकार कविता की भाषा के लिए ब्रजभाषा को ही उपयुक्त समझ रहे थे, जबकि अयोध्या प्रसाद खत्री की समझ कविता की भाषा के लिए खड़ी बोली को उपयुक्त मानती थी। परिणामस्वरूप दोनों पक्षों में लंबा वाद-विवाद चला, किंतु अयोध्या प्रसाद खत्री को अपनी साझी भाषा-नीति के आंदोलन में पर्याप्त सफलता नहीं मिली। हालांकि आगे चलकर 'सरस्वती' के संपादक महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिंदी गद्य और पद्य की एक भाषा खड़ी बोली निर्धारित करने के लिए उल्लेखनीय प्रयास किया। बालकृष्ण भट्ट ने भी अयोध्या प्रसाद खत्री द्वारा प्रस्तावित खड़ी बोली की पांच शैलियों के झुटपुट से निकलकर

विभिन्न शैलियों में एकरूपता लाने और एक मानक शैली की आवश्यकता पर बल दिया। वास्तव में शैलियों की बहुरूपता हिंदी के विकास में एक अवरोध बनती जा रही थी। इसलिए बीसवीं सदी की शुरूआत में हिंदी में भाषा की विभिन्न शैलियों को समाप्त करके मानक हिंदी का विकास किया गया और खड़ी बोली हिंदी पूरे भारत में हिंदी भाषियों की प्रतिनिधि साहित्यिक, शैक्षिक, प्रशासनिक व न्यायिक भाषा हो गयी। अब हिंदी साहित्य में विषय की विविधता दिखायी देने लगी और नवजागरण काल के हिंदी साहित्य ने खड़ी बोली हिंदी के नये कलेवर में आधुनिक भारत के साहित्य में अपनी अलग पहचान बना ली। राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान इस खड़ी बाली हिंदी को ही भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया गया।

संदर्भ-ग्रंथ सूची

1. उमाशंकर; खड़ी बोली कविता के प्रवर्तक : स्वर्गीय अयोध्या प्रसाद खत्री; अयोध्या प्रसाद खत्री स्मृति समिति, विश्लेषण कार्यालय, मुजफ्फरपुर (बिहार); संस्करण 1959 ई.

2. उमाशंकर; कलमशिल्पी अयोध्या प्रसाद खत्री निर्माण प्रकाशन, पटना; प्रथम संस्करण 1961 ई.

3. कनोडिया, कमला; भारतेंदुकालीन हिंदी साहित्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि; विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी; संस्करण 1971 ई.

4. खत्री, कार्तिक प्रसाद; हिंदी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास; नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी; संस्करण 1894 ई.

5. गांधी, महात्मा; हिंद स्वराज; प्रभात प्रकाशन, 2020

6. गुप्ता, जीतेन्द्र; भारतीय इतिहासबोध का संघर्ष और हिंदी प्रदेश; ग्रंथशिल्पी प्रकाशन, दिल्ली प्रथम हिंदी संस्करण 2011 ई.

7. चतुर्वेदी, रामस्वरूप; हिंदी साहित्य आर संवेदना का विकास; लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद प्रथम संस्करण 1986 ई.

8. चौहान, जसपाली; भारतेंदु युग की शब्द संपदा सार्थक प्रकाशन दिल्ली; प्रथम संस्करण 1995 ई.

9. छवि, कुमारी (संपादक); हिंदी पत्रकारिता की विरासत; संकल्प प्रकाशन, पटना, संस्करण 1998 ई.

10. जैन, ज्ञानचंद; भारतेंदु हरिश्चंद्र : एक व्यक्तित्व चित्र; विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी; संस्करण 2004 ई.

11. जैसवाल, श्रीश; हिंदी का नवजागरण काल एवं भाषा विवाद; हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, इलाहाबाद संस्करण 2007 ई.

12. झा, कल्याण कुमार; बिहार की हिंदी साहित्यिक पत्रकारिता; साहित्य कला संगम, बेतिया, प्रथम संस्करण 1997 ई.

13. झा, ज्ञानतोष कुमार (संपादक); भाषा की राजनीति और राष्ट्रीय अस्मिता; सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, दिल्ली; प्रथम संस्करण 2014 ई.

14. डालमिया, वसुधा; हिंदू परम्पराओं का राष्ट्रीयकरण : भारतेंदु हरिश्चंद्र और उन्नीसवीं सदी का बनारस (अनुवादक: संजीव कुमार और योगेंद्र दत्त); राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; पहला संस्करण 2016 ई.

15. तलवार, वीर भारत (संपादक); सिंह, नामवर (प्रधान संपादक); हिंदी नवजागरण के अग्रदूत : राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिंद (प्रतिनिधि संकलन); नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, दिल्ली; पहली आवृत्ति 2005 ई.

16. तलवार, वीर भारत; भारतीय साहित्य के निर्माता : राजा शिवप्रसाद . 'सितारेहिंद' (विनिबंध); साहित्य अकादेमी, दिल्ली; संस्करण 2005 ई.

17. तलवार, वीर भारत; रस्साकशी 19वीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत; सारांश प्रकाशन, दिल्ली; संस्करण 2012 ई.

18. तिवारी, रामचंद्र; प्रतापनारायण मिश्र (विनिबंध); साहित्य अकादेमी, दिल्ली; प्रथम संस्करण 1992 ई.

19. तिवारी, रामचंद्र; हिंदी का गद्य साहित्य; विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी; संस्करण 2009 ई.

20. तिवारी, हंस कुमार (प्रधान संपादक); हिंदी साहित्य और बिहार; बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, प्रथम संस्करण शकाब्द 1906.

21. दास, ब्रजरत्न; खड़ी बोली हिंदी साहित्य का इतिहास; हिंदी साहित्य कुटीर, बनारस द्वितीय संस्करण 1952 ई.

22. दास, श्यामसुंदर; हिंदी भाषा इंडियन प्रेस, प्रयाग; संस्करण 1946.

23. द्विवेदी, हजारी प्रसाद; हिंदी साहित्य : उद्भव और विकास; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; संस्करण 1952 ई.

24. द्विवेदी, हजारी प्रसाद; हिंदी साहित्य की भूमिका राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; संस्करण 2012 ई.

25. दुबे, उदय नारायण; राजभाषा के संदर्भ में हिंदी आंदोलन का इतिहास; प्रकाशन संस्थान, दिल्ली; संस्करण 1979 ई.

26. नगेन्द्र (संपादक); हिंदी साहित्य का इतिहास; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली; संस्करण 1978 ई.

27. नीलाभ (शोध एवं संपादक); हिंदी साहित्य का मौखिक इतिहास (खंड 3); महात्मा गाँधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा (महाराष्ट्र); प्रथम संस्करण 2004 ई.

28. परिमलेंदु, रामनिरंजन भारतेंदु युग के भूले बिसरे कवि और उनका काव्य; नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी; संस्करण 2002 ई.

29. परिमलेंदु, रामनिरंजन भारतीय साहित्य के निर्माता : अयोध्या प्रसाद खत्री (विनिबंध); साहित्य अकादेमी, दिल्ली; प्रथम संस्करण 2003 ई.

30. प्रभाकर, विष्णुः भारतीय साहित्य के निर्माता: स्वामी दयानंद सरस्वती (विनिबंध); साहित्य अकादेमी, दिल्ली; पुनर्मुद्रण संस्करण 2005 ई.

31. प्रेमघन, बद्रीनारायण चौधरी; प्रेमघन सर्वस्व, द्वितीय भाग; हिंदी साहित्य सम्मलेन, प्रयाग

32. प्रेमचंद; साहित्य का उद्देश्य; साहित्य सरोवर, 2021

33. पाठक, पद्मधर; फ्रेडरिक पिन्कॉट : व्यक्तित्व और कृतित्व; नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी; संवत 2027 विक्रम

34. पाठक, पद्मधर (संपादक); श्रीधर पाठक ग्रंथावली; ग्रंथागार, जोधपुर; प्रथम संस्करण 1996 ई.

35. पांडेय, मैनेजर; साहित्य और इतिहास दृष्टि; वाणी प्रकाशन, दिल्ली; संस्करण 2009 ई.

36. फारूकी, शम्सुर्रहमान उर्दू का आरंभिक युग; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; संस्करण 2007 ई.

37. मिश्र, प्रताप नारायण; प्रताप नारायण मिश्र रचनावली (संपादक : चंद्रिका प्रसाद शर्मा); भारतीय प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली; संस्करण 2001.

38. मिश्र, विद्यानाथ (संपादक); बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री; अयोध्या प्रसाद खत्री स्मृति समिति, मुजफ्फरपुर (बिहार); प्रथम संस्करण 1959 ई.

39. मिश्र, विद्यानिवास (संपादक); सभापतियों के भाषण (भाग - 2); हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग इलाहाबाद प्रथम संस्करण 1987 ई.

40. मिश्र, शितिकंठ; खड़ी बोली का आंदोलन; नागरी प्रचारिणी सभा, काशी प्रथम संस्करण संवत 2013 विक्रम (1956 ई.)

41. मिश्र, सिद्धिनाथ; बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री : स्मृति ग्रंथ; अयोध्या प्रसाद खत्री जयंती समारोह समिति, मुजफ्फरपुर संस्करण 2007 ई.

42. यायावर, भारत (संपादक); हिंदी की अनस्थिरता : एक ऐतिहासिक बहस; वाणी प्रकाशन, दिल्ली; संस्करण 1993 ई.

43. रामगोपाल; स्वतंत्रता पूर्व हिंदी के संघर्ष का इतिहास; हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, इलाहाबाद संस्करण 1965 ई.

44. रामगोपाल; भारतीय मुसलमानों का राजनैतिक इतिहास; मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, संस्करण 1970 ई.

45. डॉ. रामप्रकाश; सत्यार्थ प्रकाश-विमर्श; भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, राष्ट्रपति निवास, शिमला, प्रथम संस्करण अगस्त, 2004,

46. राय, गोपाल एवं सांकृत, सत्यकेतु; उन्नीसवीं शताब्दी का हिंदी साहित्य; वाणी प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2015

47. लक्ष्मीचंद (संकलनकर्त्ता); हिंदी भाषा आंदोलन; हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग इलाहाबाद संस्करण 1963 ई.

48. व्यास, लक्ष्मीशंकर (संपादक); सभापतियों के भाषण; हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, इलाहाबाद प्रथम संस्करण 1987 ई.

49. वर्मा, धीरेन्द्र; मध्यदेश: ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक अवलोकन; बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना; द्वितीय संस्करण 2007 ई.

50. वर्मा, लक्ष्मीकांत (संपादक); हिंदी आंदोलन; हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1964 ई.

51. वर्मा, लक्ष्मीकांत (संपादक); हिंदी भाषा और नागरी लिपि (पत्रिका) निबंध संग्रह); हिंदुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद प्रथम संस्करण 1971 ई.

52. वाजपेयी, किशोरीदास; हिंदी शब्दानुशासन; नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी; तृतीय संस्करण 1976 ई.

53. वाजपेयी, नंददुलारे; हिंदी साहित्य : बीसवीं शताब्दी; हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, इलाहाबाद; संवत 1999 विक्रम

54. वाजपेयी, नंददुलारे; आधुनिक साहित्य; विश्वभारती भंडार, इलाहाबाद; संवत 2007 विक्रम

55. वार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर; फोर्ट विलियम कॉलेज (1800-1854ई); हिंदी परिषद् प्रकाशन हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, संस्करण 1947 ई.

56. वार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर; आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका (खंड 1 एवं खंड 2); हिंदी परिषद् प्रकाशन इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद; संस्करण 1952 ई.

57. वार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर; बीसवीं शताब्दी हिंदी साहित्य : नए संदर्भ; साहित्य भवन, इलाहाबाद : संस्करण 1956 ई.

58. वार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर; उन्नीसवीं शताब्दी; साहित्य भवन, इलाहाबाद; प्रथम संस्करण 1963 ई.

59. वार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर; आधुनिक हिंदी साहित्य : 1850-1900; हिंदी परिषद् प्रकाशन इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद; संस्करण 1971 ई.

60. वार्ष्णेय, लक्ष्मीसागर; आधुनिक हिंदी साहित्य; हिंदी परिषद् प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद संस्करण 1981 ई.

61. वर्मा, डॉ. सहदेव; मैथिलीशरण गुप्त का खड़ी बोली के उत्कर्ष में योगदान,आदर्श साहित्य प्रकाशन,दिल्ली

62. शर्मा, पद्म सिंह; हिंदी, उर्दू और हिंदुस्तानी; हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद संस्करण 2011 ई.

63. शर्मा, रामविलास; भारतेंदु युग और हिंदी भाषा की विकास परंपरा; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; प्रथम संस्करण 1975 ई.

64. शर्मा, रामविलास; महावीर प्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; प्रथम संस्करण 1975 ई.

65. शर्मा, रामविलास; भाषा और समाज; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; द्वितीय संस्करण 1977 ई.

66. शर्मा, रामविलास; भारत की भाषा समस्या; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; संस्करण 2010 ई.

67. शर्मा, विनय मोहन; हिंदी साहित्य का वृहद इतिहास (आठवाँ भाग: भारतेंदु काल); नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी; संस्करण 1972 ई.

68. शर्मा, हेमंत (संपादक); भारतेंदु समग्र; हिंदी प्रचारक पब्लिकेशन, वाराणसी; संस्करण 2002 ई.

69. शिशिर, कर्मेन्दु (संपादक); भारतेंदु युग के प्रमुख रचनाकार: राधाचरण गोस्वामी की चुनी हुई रचनाएँ; परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद; संस्करण 1990 ई.

70. शीतांश; कम्पनी राज और हिंदी (संदर्भ: फोर्ट विलियम कॉलेज); राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; पहला संस्करण 2018 ई.

71. शुक्ल, केशरी नारायण; भारतेंदु के निबंध; सरस्वती मंदिर, बनारस, सं. 2008 वि.

72. शुक्ल, प्रेमनारायण (संपादक); सभापतियों के भाषण (भाग- 3); हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1987 ई.

73. शुक्ल, रामचंद्र; हिंदी साहित्य का इतिहास; नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी; पेपर बैक छठा संस्करण संवत 2069 विक्रम (2012 ई.)

74. सक्सेना, प्रदीप 1857 और नवजागरण के प्रश्न; शिल्पायन प्रकाशन, दिल्ली : संस्करण 2015 ई.

75. सहाय, शिवपूजन एवं शर्मा, नलिन विलोचन (संपादक); अयोध्या प्रसाद खत्री - स्मारक ग्रंथ; बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना; संस्करण 1960

76. सांकृत्यायन, राहुल; हिंदी काव्यधारा; बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना; संस्करण 1969 ई.

77. सिंह, कपिलदेव; ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली; विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, प्रथम संस्करण 1959 ई.

78. सिंह, कृपाशंकर; हिंदी-उर्दू-हिंदुस्तानी : हिंदू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता और अंग्रेजी राज : 1800-1947; प्रासंगिक पकाशन, दिल्ली; संस्करण 1992 ई.

79. सिंह, कृपाशंकर; इतिहास का सच और हिंदी-उर्दू तथा दक्खिनी हिंदी; नमन प्रकाशन, दिल्ली; संस्करण 2018 ई.

80. सिंह, धीरेन्द्रनाथ; आधुनिक हिंदी के विकास में खड्गविलास प्रेस की भूमिका; बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना; संस्करण 1986 ई.

81. सिंह, नामवर (प्रधान संपादक); चंद्रधर शर्मा गुलेरी : प्रतिनिधि संकलन; नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, दिल्ली; संस्करण 1995 ई.

82. सिंह, रविनंदन; हिंदी, उर्दू और खड़ी बोली की जमीन; साहित्य भंडार, इलाहाबाद; संस्करण 2015 ई.

83. हरिऔध, अयोध्या सिंह उपाध्याय; हिंदी भाषा और उसके साहित्य का विकास; बाबू मानिकलाल, दी युनाईटेड प्रेस लिमिटेड, भागलपुर

84. हुसैन, हाली; मौलाना अल्ताफ; हयाते-जावेद (सर सैय्यद अहमद खां)

85. त्रिपाठी, अरविद (संपादक-संयोजक); वर्तमान साहित्य, शताब्दी आलोचना पर एकाग्र) अंक-2; गाजियाबाद (उत्तर प्रदेश)

86. श्रीधरण, ई.; इतिहास लेख; (अनुवादक: मंजीत सिंह सलूजा); ओरिएंट ब्लैकस्वॉन प्रकाशन, दिल्ली; पहला संस्करण 2011 ई.

अंग्रेजी पुस्तकें

1. Adhya, G.L.; History of Education Unit; National Institute of Education, New Delhi.
2. Beames, J.; On the Arabic Elements in Official Hindustani; Journal of Asiatic Society of Bengal, Part-III; 1867.
3. Burnes, R; Chief Secretary's Correspondence; Introduction of Hindi as a Court Language-1907; File 24, Box 110; General Administration Department; U. P. State Archives, Lucknow.
4. Chandra, Sudhir; Oppressive Present; Oxford University Press; Edition 1992.
5. Dalmia, Vasudha; The Nationalization of Hindu Traditions; Oxford University Press; Edition 1997.
6. Das, Sisir Kumar; History of Indian literature: 1911-1956, Sahitya academy, Delhi

7. Datta, K.K; A Social History of India; The Macmillan Company of India Ltd., New Delhi; Edition 1975.

8. Gilchrist, John Borthwick; The Oriental Linguist; Farice and Greenway Publication, Calcutta; Edition 1798.

9. Gilchrist John Borthwick; The Hindi-Roman Orthoepigraphical Ultimatum; Kingsway, Palmbury and Allen, London; Second Edition 1820.

10. Gopal, S.; British Policy in India 1858-1905, Cambridge university press, 1965

11. Grierson, George Abraham; A Plea for the People's Tongue; Calcutta Review, Volume 71; 1880.

12. Hornle, A.F.R.; Essays in aid of a Comparative Grammar of the Gaurian Languages; Journal of Asiatic Society of Bengal, Calcutta; Volume XLI; 1872.

13. Hunter, W.W.; The Indian Empire & its People: History and Products; Trubnes & Co., London; 1886.

14. Kidwai, Sadiqur Rahman; Gilchrist and the Language of Hindoostan; Rachna Prakashan, New Delhi; 1972.

15. King, Christopher R.; One Language Two Scripts: The Hindi Movement in Nineteenth Century North India; Oxford University Press, New Delhi; Edition 1994.

16. Kopf, David; British Orientalism and the Bengal Renaissance; University of California Press, California; Edition 1969.

17. Kumar, Uday; Status of Hindi in India; Readworthy Publications, Delhi; First Edition 2009.

18. Leitner, G.W.; History of the Indigenous Education in the Punjab; Language Department, Punjab, Patiala; 1971.

19. Macaulay, Thomas Babington; Minute on Indian Education; Feb. 02, 1835.

20. Martin, Montgomery (Editor); The Despatches Minutes and Correspondence of the Marquess Wellesley, K.G. During his Administration in India; Volume 2; Inter India Publication, New Delhi; Reprint 1945.

21. Pearce, R. R.; Memoirs and Correspondence of the Most Noble Richard Marquess Wellesley; Volume 2Richard Bentley, London; Edition 1846.

22. Rai, Alok; Hindi Nationalism; Orient Longman PvtLtd., Delhi; Edition 2000

23. Pioneer (Allahabad), Reprinted 6th March, 1998

पत्र-पत्रिकाएँ

1. आलोचना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; अक्टूबर - दिसम्बर 1986 ई.

2. तद्भव, विशेष प्रस्तुति, जनवरी, 2013, संपादक- अखिलेश, इंदिरा नगर, लखनऊ

3. द बिहार टाइम्स : अंग्रेजी साप्ताहिक, पटना 23 अप्रैल 1901 ई., 21 मई 1901 ई.

4. दीवान-ए-सराय, अंक-1, मीडिया विमर्श: हिंदी जनपद, संपादक- रविकांत एवं संजय शर्मा; विकासशील समाज अध्ययन पीठ और वाणी प्रकाशन, दिल्ली; 2002 ई.

5. धर्मयुग : साप्ताहिक; बम्बई; 16 सितम्बर 1962 ई., 22 सितम्बर 1962 ई.

6. नागरी प्रचारिणी पत्रिका त्रैमासिक, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; जून 1899 ई., 1901 ई. (भाग-5), 1902 ई. (भाग-6) ई.

7. प्रथम हिंदी साहित्य सम्मेलन काशी, कार्य-विवरण 1910 ई; चतुर्थ हिंदी साहित्य सम्मेलन भागलपुर, कार्य-विवरण 1913 ई.

8. ब्राह्मण : मासिक पत्र; कानपुर 15 जून 1884 ई., फरवरी-मार्च 1888 ई., 15 मई 1889 ई.

9. बिहार बंधुः साप्ताहिक पत्र; संपादक: केशवराम भट्ट; अंक : 07 अप्रैल, 1887 ई. (गुरुवार), 23 जून 1887 ई. (गुरुवार)

10. भारत जीवन : साप्ताहिक पत्र; वाराणसी; 16 जून 1884 ई., 18 अगस्त 1884 ई., 15 मई 1899 ई.

11. भारतमित्र : साप्ताहिक, कलकत्ता; 07 जुलाई 1887 ई., 16 मार्च 1901 ई., 30 अगस्त 1902 ई., दिसंबर 1902 ई.

12. मधुमती; नवम्बर - दिसंबर 1986 ई.

13. नवभारत टाइम्स; दैनिक 03 अगस्त 1986 ई.

14. मित्र- 3; संपादक- मिथिलेश्वर; आरा (बिहार)

15. वर्तमान साहित्य, शताब्दी कविता विशेषांक; संपादक : लीलाधर मंडलोई ; 2000

16. वर्तमान साहित्य, शताब्दी आलोचना विशेषांक; संपादक-संयोजक: अरविंद त्रिपाठी; अंक : 02, 2002 ई.

17. समालोचक : मासिक पत्र, जयपुर: अगस्त 1902 ई., सितम्बर 1902 ई., नवम्बर 1902 ई., दिसम्बर 1902 ई., जून-जुलाई 1903 ई., अक्टूबर-नवम्बर 1903 ई., जनवरी-फरवरी 1904 ई., मार्च-अप्रैल 1904 ई., अगस्त 1905 ई.

18. सरस्वती, मासिक पत्र; इलाहाबाद; जनवरी 1900 ई. (सम्पूर्ण)

19. सार सुधानिधि, साप्ताहिक पत्र; कलकत्ता; 28 जुलाई 1879 ई.

20. हिंदी प्रदीप, मासिक पत्र; संपादक: बालकृष्ण भट्ट; इलाहाबाद; अगस्त 1879 ई., अक्टूबर 1884 ई., फरवरी 1884 ई., अक्टूबर 1886 ई., अक्टूबर-दिसंबर 1887 ई., जुलाई 1888 ई., सितंबर-दिसंबर 1896 ई., अप्रैल-जून 1900 ई.

21. हिंदोस्थान; 8 मार्च, 1998

अभिलेखागारीय सामग्री

1. Proceedings of the college of Fort William (1801-1854); (उन्नीस खंडों में), खंड क्रमांक: 559 से 577 तक, तिथि: 24.04.1801 से 27.01.1854 तक. Home Department, Miscellaneous Records.

शोधार्थी का जीवनवृत्त

1. नाम	:	**प्रभंजन कुमार झा**		
2. पिता का नाम	:	बिंध्यानाथ झा		
3. माता का नाम	:	शैल देवी		
4. पता	:	आदर्श एंकलेव, बाबा कॉलोनी, बुराड़ी, दिल्ली		
5. जन्मतिथि	:	05 जनवरी, 1989		
6. शैक्षणिक योग्यता	:	a) BSEB	(2005)	2nd Div.
		b) CBSE	(2007)	1st Div.
		c) B.A.	(2010)	1st Div.
		d) M.A.	(2014)	2nd Div.
		e) बी.एड.	(2011)	1st Div.

7. मोबाइल : 8447747603

8. ईमेल : jhaprabhanjan89@gmail.com

9. भाषा : हिंदी, अँग्रेजी, मैथिली

10. प्रकाशन : क) 'हिंदी भाषा विमर्श और महावीर प्रसाद द्विवेदी', शोध दिशा, अंक-61/5, जनवरी- मार्च, 2023

ख) 'फोर्ट विलियम कॉलेज और हिंदी भाषा का प्रश्न', आधुनिक साहित्य, वर्ष-12, अंक-45, जनवरी-मार्च, 2023

ISSN 2277 - 7083

आधुनिक साहित्य

Aadhunik Sahitya

साहित्य, संस्कृति एवं आधुनिक सोच की त्रैमासिकी

UGC Approved CARE Listed Journal

अंक/Year-12 अंक/Vol.-45 द्विभाषी/Bilingual

जनवरी - मार्च / Jan. - March 2023

संपादक

डॉ. आशीष कंधवे

UGC Approved CARE Listed Journal

आधुनिक साहित्य

साहित्य, संस्कृति एवं आधुनिक सोच की त्रैमासिकी

वर्ष/Year-12 अंक/Vol.-45 जनवरी-मार्च 2023/January–March 2023 द्विभाषी/Bilingual

Aadhunik Sahitya

संपादक

डॉ. आशीष कंधवे*

Editor

Dr. Ashish Kandhway

उप संपादक	Sub Editor
रजनी सेठ	Rajni Seth
प्रबंध संपादक	Managing Editor
ममता गोयनका	Mamta Goenka
संवाददाता (अंग्रेजी)	Correspondent (English)
निलांजन बैनर्जी	Nilanjan Banerjee
संरक्षकगण	Patron
प्रो. उमापति दीक्षित	Prof. Umapati Dixit
कुमार अविकल मनु	Kumar Avikal Manu

*आशीष कंधवे (मूल नाम आशीष कुमार)

आधुनिक साहित्य में प्रकाशित लेखों में व्यक्त विचार एवं दृष्टिकोण संबन्धित लेखकों के हैं जिनसे संपादक, प्रकाशक, मुद्रक एवं पत्रिका से जुड़े किसी भी व्यक्ति का सहमत होना अनिवार्य नहीं है। सभी विवादों का निपटारा दिल्ली क्षेत्र के अन्तर्गत सीमित है। पत्रिका में सम्पादन से जुड़े सभी पद गैर-व्यावसायिक एवं अवैतनिक हैं।

अनुक्रम

संपादकीय

- डॉ॰ आशीष कंधवे / अभ्युदय का मार्ग / 10

हिंदी प्रभाग

- डॉ. बिपिन कुमार ठाकुर / **जी 20 की अध्यक्षता: भारत के लिए एक स्वर्णिम अवसर / 15**
- उर्मिला शर्मा, कविता नाहरवाल / **भगवान चित्रगुप्त / 20**
- डॉ. दीपांकुर जोशी, डॉ. शालिनी चौधरी / **घरेलू हिंसा से पीड़ित महिलाओं का संरक्षण: एक अध्ययन / 23**
- डॉ. अमृता श्री / **राष्ट्रभाषा हिंदी की आवश्यकता / 29**
- कुलदीप कुमार, डॉ. रीता सिंह / **एस. आर. हरनोट की कहानियों में वृद्धों का जीवन संघर्ष / 34**
- साकेत बिहारी / **भाषा का प्रश्न और राष्ट्रीय शिक्षा नीति / 39**
- दिगंत द्विवेदी / **कोंदर जनजाति की सामाजिक स्थिति का समाजशास्त्रीय अध्ययन / 48**
- डॉ. नलिनी सिंह / **वैश्विक पटल पर भाषा का प्रश्न और हिंदी भाषा की स्थिति / 52**
- अपर्णा वर्मा, डॉ. वी. शिरिषा / **भारतीय भाषाओं के उन्नयन में राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 / 59**
- बसंत कुमार / **भारत में राष्ट्रीयता और हिंदी भाषा/ 64**
- स्वप्निल पांडेय / **वैश्विक अभिव्यक्ति की ओर अग्रसर हिंदी भाषा / 68**
- श्रीमती पॉली भौमिक / **त्रिपुरा में हिन्दी का भाषाई महत्त्व / 72**
- डा॰ आनंद जायसवाल, ममता रानी / **पत्रकारिता और हिन्दी भाषा का आंतरिक सम्बन्ध / 75**
- नंदकिशोर / **नन्द किशोर नवल : भाषाई व्यक्तित्व / 80**
- राजेश कुमार / **हिन्दी के अंतरराष्ट्रीयकरण में प्रवासी साहित्य का योगदान / 92**
- श्रीमती चैताली सलूजा, डॉ. नंदिनी तिवारी / **भाषा का प्रश्न और प्रवासी साहित्य / 96**
- डॉ. परिस्मिता बरदलै / **असमिया संस्कृति और राम-कथा की परंपरा / 105**
- डा. सुजीत कुमार, डा. गौरव रंजन / **इंटरनेट के युग में लोकजीवन एवं युवाओं की सामाजिक चेतना / 120**
- बी आकाश राव / **पूर्वोत्तर की भाषाई विविधता और हिंदी उपन्यास / 123**
- सिमरन / **ब्रिटेन की चयनित प्रवासी हिन्दी कहानियों में स्वदेशभक्ति / 128**
- पूजा / **भाषा का प्रश्न एवं राष्ट्रीय शिक्षा नीति / 133**
- कुसुम सबलानिया / **भाषा का प्रश्न और पूर्वोत्तर का हिंदी साहित्य / 138**

- डॉ. भगवान गव्हाडे / **भाषा का प्रश्न और हिंदी सिनेमा / 143**
- दीपक सोराड़ी / **राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 एवं बहुभाषिकता / 148**
- डॉ. जय प्रताप सिंह / **वैश्विक पटल पर भाषा का प्रश्न / 153**
- डॉ. हरप्रीत कौर/**हिंदी भाषा का समाजभाषिक अध्ययन/158**
- नीरज / **हिंदी भाषा एवं गद्य का उद्भव और विकास / 161**
- प्रियंका चौधरी/**भाषा का प्रश्न और स्त्री/557**
- प्रभंजन कुमार झा, प्रो- संजय कुमार /**फोर्ट विलियम कॉलेज और हिन्दी भाषा का प्रश्न/561**
- सूरज प्रकाश बडत्या/**महात्मा बुद्ध और साहित्य -समाज परिवर्तनकारी चेतना/566**
- संदीप कुमार जायसवाल/**भाषा का प्रश्न और वेब सीरीज/573**
- रमेश एस. लाल, प्रो. हासो दादलाणी/**सामी के काव्य में वेदांत/580**
- प्रो. मंजुला राणा/**कृष्णा सोबती का रचना-संसार/589**
- डॉ. मनोरमा मिश्रा/**भारतीय साहित्य में नैतिक मूल्य/594**
- डॉ. पूनम कुमारी/**परशुराम की प्रतीक्षा और भारतीय प्रसंग/598**
- कल्पना उप्रेती/**वर्तमान शिक्षा प्रणाली में त्रि-भाषासूत्र का महत्व व चुनौतियाँ/602**
- प्रो. सुशील कुमार शर्मा/**माटी के सम्मान की कविताएँ: 21वीं सदी का आदमी/607**
- अमित आर्य, प्रो. मैथिली गंजूँ/**अपराध, राजनीति, और व्यापार से संबंधित ख़बरें और 'एनडीटीवी'/611**

ENGLISH SECTION

- S. Gangaiamaran, Dr. K. Sindhu/**Portrayal of a Tribal Woman's Life as seen in Mahasweta Devi's Rudali / 167**
- P. Kumar, Dr. K. Dharaniswari / **Women's Liberationist Outlook in Manju Kapur's Novels 174**
- R.Vijayarani / **Emancipation of Woman in Gayle Jones's Healing / 179**
- R. Gopiram, Dr. J. Jayakumar / **Assumption of Ethnicity and Change of Modern Materialism in Kurt Vonnegut's Slaughter House Five / 186**
- C.Athiyaman, Dr. V. Radhakrishnan / **Woman as a Symbol of Sacrifice in Kamala Markandaya's Novel Nectar in a Sieve / 192**
- S. S. Uma Sundara Sood, Dr. P. Mythily/ **A Psychological Study of the Struggle between Love and Ambition of a Catholic Priest in Colleen Mccullough's The Thorn Birds. / 197**

फोर्ट विलियम कॉलेज और हिन्दी भाषा का प्रश्न

प्रभंजन कुमार झा
प्रो- संजय कुमार

'साहित्य और विज्ञान के अंगों के सामान्य ज्ञान की उन्हें वह शिक्षा दी जानी चाहिए जो यूरोप में ऐसे ही पद ग्रहण करनेवालों को दी जाती है। इस मूलाधार के साथ उन्हें भारतीय धर्मशास्त्र, शरअ मुहम्मदी, धर्मनीति और एशिया में ग्रेट ब्रिटेन के राजनीतिक एवं व्यापारिक हितों और सम्बंधों की शिक्षा सहित भारतीय इतिहास, भाषाओं और रीति-रस्मों और आचारों से भली भांति परिचित करा देना चाहिए

'प्रभावपूर्ण शासन के लिए भारत से प्रेम जरूरी है, भारत से प्रेम करने के लिए यहां के मूल निवासियों से सम्प्रेषण जरूरी है और यहां के मूल निवासियों से सम्प्रेषण के लिए यहां की भाषाओं की जानकारी अनिवार्य है।'

सत्ता को चलायमान स्थिति में बनाए रखने की कोशिश में ज्ञान की आवश्यकता जान पड़ी। जहां सम्प्रेषण के लिए भारतीय भाषाओं की जानकारी अनिवार्य समझी गयी। वॉरेन हेस्टिंग्स भारत के वह गवर्नर रहे जिन्होंने भारतीय भाषाओं और संस्कृति के अध्ययन में गति पैदा की। हेस्टिंग्स का मानना था कि सक्षम सिविल कर्मचारी वही हो सकता है जिसमें परसंस्कृति अपनाने का सामर्थ्य हो। परसंस्कृति अपनाने का अर्थ मात्र सामाजिक मेल-मिलाप नहीं अपितु बौद्धिक आदान-प्रदान भी है।

शेखर पन्द्योपाध्याय ने वारेन हेस्टिंग्स को उद्धृत करते हुए लिखा है - '1784 ई. में हेस्टिंग्स ने लिखा - ज्ञान का हर संचय राज्य के लिए उपयोगी है...वह दूर (अतीत) के प्रेम को आकर्षित करता और अपना बनाता है यह उस जंजीर को हलका बनाता है जिसके द्वारा मूल जनता को अधीनता में रखा जाता है, और यह हमारे अपने देशवासियों के दिलों पर परोपकार के भाव और दायित्व की छाप छोड़ता है। - लेकिन अगर प्राच्यवादी संवाद आरंभ में प्राचीन भारतीय परम्पराओं के सम्मान की भावना पर आधारित था तो वहीं उसने अधीनस्थ समाज के बारे में ऐसा ज्ञान भी पैदा किया, जिसने आखिरकार शासन की नीति के रूप में प्राच्यवाद के अस्वीकार का आधार तैयार किया।'

1784 ई. में एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना हुई। एशियाटिक सोसाइटी के प्रयासों से गम्भीर बौद्धिक परिवेश का निर्माण हुआ जिसका प्रभाव नवजागरण के दौर में पूरे पश्चिम बंगाल में देखा जा सकता है। विलियम जोंस, जॉन हाइड, डेविड एंडर्सन, विलियम चेम्बर्स, जोनाथन डंकन, चार्ल्स विल्किंस, जार्ज बार्लो, चार्ल्स

हैमिल्टन और फ्रांसिस गाल्डविन आदि इससे जुड़े। 'एशियाटिक रिसर्चेज' के जरिए गंभीर और अनिवार्य प्राच्य विषय प्रकाश में आने लगे।

विलियम जोंस ने एशियाटिक रिसर्चेज के पहले खंड में इस सोसाइटी के उद्देश्यों को लेकर 'एक डिस्कोर्स ऑन दी इंस्टीट्यूशन ऑफ ए सोसाइटी फॉर इन्क्वायरिंग इनटू दी हिस्ट्री, सिविल एण्ड नेचुरल द एंटीक्विटीज, आर्ट्स, साइंसेज एंड लिटरेचर ऑफ एशिया' लेख में अपने मंतव्य रखे - 'यह मेरे लिए अनिर्वचनीय आनंद की स्थिति है कि मैं एशिया के उस विस्तृत प्रदेश के मध्य में खड़ा हूं जिसने विज्ञान को विस्तार दिया, आह्लादकारी कलाओं का सृजन किया, श्रेष्ठ बुद्धियों को जन्म दिया, जो प्राकृतिक आश्चर्यों से परिपूर्ण है और जहां अनेक प्रकार के धर्म, प्रशासनिक व्यवस्थाएं, परम्परा, व्यवहार, भाषा और यहां तक कि मनुष्यों के रूप-रंग भी दृष्टिगत होते हैं। मैं यह कहने से स्वयं को रोक नहीं सकता कि इतना विस्तृत और महत्त्वपूर्ण प्रदेश अभी तक अन्वेषित है।' जोंस आगे लिखते हैं - सिर्फ वही जिज्ञासु और अध्ययनशील लोग इस सोसाइटी की सदस्यता ग्रहण कर सकते हैं जिनके भीतर ज्ञान के लिए प्रेम हो और जिनके भीतर इसका विकास करने की उत्कंठा हो।'

इस प्रकार के मूल विचार को अपनाकर चलने वाले को सिर्फ साम्राज्यवादी चश्मे से देखना ज्ञान के क्षेत्र में इनके योगदान को एक सिरे से नकारना होगा। यहां सत्ता और ज्ञान के अंतर्संबंध को परखना लाजिमी है किंतु ज्ञान नदी है जो स्वयं अपना रास्ता तैयार करता चलता है। उदाहरण के लिए ओ.पी. केजरीवाल की पुस्तक 'भारत के अतीत की खोज' में बड़े दुख के साथ ए.एल. वैशम ने लिखा है 'सोसाइटी ने अपने प्रारम्भिक दिनों में प्रकृति विज्ञान में जो रूचि ली, उसे पश्चिम के प्राच्यविदों ने आलोचकों ने अपने इस तर्क का आधार बनाया कि अंग्रेजों ने भारत संबंधी अध्ययनों में केवल इसीलिए रूचि ली ताकि वे इस क्षेत्र पर अपनी प्रशासनिक पकड़ को और मजबूत तथा प्रभावशाली बना सकें। इस तरह के विचार हमें द्विशतवार्षिकी के अवसर पर आयोजित गोष्ठियों में भी सुनने को मिले।' आगे वे लिखते हैं 'जब जोंस ने 'शकुन्तला' का अनुवाद किया और सारे पाश्चात्य जगत् को संस्कृत नाट्यशास्त्र की समृद्धि से परिचित कराया तो उनके बारे में क्या हम यह सोचें कि उन्होंने ऐसा जानकर किया कि 'मैं ऐसा इसीलिए कर रहा हूं, ताकि मेरा देश अपने अधीन लोगों पर अपने शासन की पकड़ को और अधिक मजबूत कर सकें? क्या जेम्स प्रिंसेप के मन में यही भावना थी जब उन्होंने अशोक के अभिलेखों को पढ़ा? वेदों के प्रथम अध्ययन के पीछे कोलब्रूक का उद्देश्य क्या राष्ट्रीयता से प्रेरित था? यदि इन विद्वानों को अपने खाली समय के उपयोग के माध्यम से अपने देश या ईस्ट इंडिया कम्पनी की और अच्छी सेवा करनी थी तो निस्सन्देह उनके पास विद्याध्ययन से अधिक प्रभावशाली तरीके थे।'

ज्ञान के कारण सत्ता का अस्तित्व मान बैठे विचारकों से भिन्न रामविलास शर्मा मार्क्सवादी इतिहास-दृष्टि का इस्तेमाल करते हुए उपनिवेशवाद के आरम्भ का गम्भीर विश्लेषण करते हैं। 'ज्ञान को प्राच्यवादी की परंपरा से मुक्त करके नहीं बल्कि तार्किक अन्तर्दृष्टि का इस्तेमाल करते हुए इन प्राच्यविदों के महत्त्वपूर्ण कार्यों को प्रकाशित किया जाए और उसका भारतीय संस्कृति के विश्लेषण के लिए प्रयोग किया जाए।'

सर जॉन शोर ने विलियम जोंस पर केन्द्रित अपने एक व्याख्यान में कहा है - 'ज्ञान और सत्य उनके सम्पूर्ण अध्ययन के अभिप्रेत थे और उनका लक्ष्य मानव सृष्टि के लिए उपयोगी होना था। इसी दृष्टि से उन्होंने अपने अध्ययन का विस्तार सभी भाषाओं, देश और काल के लिए किया।'

सत्ता और ज्ञान के अंतर्विरोधों के बीच एशियाटिक सोसायटी, फोर्ट विलियम कॉलेज का अध्ययन जरूरी-सा मालूम पड़ता है क्योंकि आरोपित तथ्य से मुक्त होकर ही इनका स्वतंत्र अध्ययन व विश्लेषण संभव है।

सन् 1801 ई. में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की गई, जिसके मूल में वेलेजॅली की मंशा स्पष्ट दिखाई देती है -

'साहित्य और विज्ञान के अंगों के सामान्य ज्ञान की उन्हें वह शिक्षा दी जानी चाहिए जो यूरोप में ऐसे ही पद ग्रहण करनेवालों को दी जाती है। इस मूलाधार के साथ उन्हें भारतीय धर्मशास्त्र, शरअ मुहम्मदी, धर्मनीति और एशिया में ग्रेट ब्रिटेन के राजनीतिक एवं व्यापारिक हितों और सम्बंधों की शिक्षा सहित भारतीय इतिहास, भाषाओं और रीति-रस्मों और आचारों से भली भांति परिचित करा देना चाहिए।... ताकि वे भारत में ब्रिटिश साम्राज्य में व्यवहृत विभिन्न कानूनों के मूल भेदों को समझने और न्याय शासन करने तथा शांति एवं सुशासन की रक्षा करते सामय उन दोनों भावना को व्यवहार में ला सकें।'

उपर्युक्त कथन से जाना जा सकता है कि ब्रिटिश शासन को स्थायित्व प्रदान करने के लिए ज्ञान को अनिवार्य औजार के रूप में इस्तेमाल, फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना के मूल कारणों में निहित है। किन्तु इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता कि फोर्ट विलियम कॉलेज का अस्तित्व, भारतीय भाषा तथा भारतीय ज्ञान परंपरा का विस्तार व समृद्धि की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

फोर्ट विलियम कॉलेज ने एक अकादमिक माहौल तैयार किया। बंगाल में फैल रहे ब्रिटिश प्राच्यवाद का प्रभाव कॉलेज पर साफ दिखाई देता है। जिस काउंसिल और अध्यापकों के साथ फोर्ट विलियम कॉलेज की शुरुआत हुई, वे सभी प्राच्यविद्या के क्षेत्र में अपना स्थान बना चुके थे। फोर्ट विलियम कॉलेज से जुड़ने वाले सभी शिक्षक/विद्वान खालिस व्यापारिक मनोवृत्ति से नहीं अपितु शिक्षा व शिक्षण के उद्देश्यों को लेकर जुड़े थे, जिनमें सबसे प्रमुख नाम हिन्दुस्तानी भाषा को प्राथमिकता देने वाल जॉन बॉर्थविक गिलक्रिस्ट थे।

जॉन बार्थविक गिलक्रिस्ट हिन्दुस्तानी भाषा के समर्थक होने के बावजूद भी हिन्दी भाषा ग्रंथों की रचना लल्लूलाल व सदल मिश्र की सहायता से करवाते हैं। गिलक्रिस्ट हिन्दुस्तानी को अरबी-फारसी और हिन्दी को ब्रजभाषा से जोड़कर प्रस्तुत करते हैं। नवीन ग्रंथों व कोशों को तैयार कर उन्होंने भारतीय भाषा को समृद्ध किया।

बहरहाल आगे चलकर जॉन विलियम टेलर ने हिन्दुस्तानी का अधिक महत्त्व होने के बावजूद भी हिन्दी के अध्ययन को आवश्यक माना। जॉन विलियम टेलर के कार्यकाल में हिंदी-हिंदुस्तानी के कुछ नए ग्रंथ तैयार हुए कुछ अनुवाद कार्य हुए, पुराने ग्रंथों के नए संशोधित संस्करण प्रकाशित हुए, साथ ही

ग्रंथकर्ताओं को पुरुस्कृत करने का कार्य भी किया गया। टेलर के तीन बड़े सहयोगियों - टॉमस रोएबक, विलियम प्राइस और तारिणीचरण मिश्र ने भी अपने-अपने कार्यक्षेत्र में उम्मीद से बढ़कर कार्य किया। तारिणीचरण मिश्र ने टॉमस रोएबक को कोश तैयार करने में भरपूर मदद की, साथ ही उन्होंने विद्यापति के संस्कृत ग्रंथ 'पुरुष परीक्षा' का हिन्दुस्तानी अनुवाद भी प्रस्तुत किया।

'हिन्दी और हिन्दुस्तानी सेलेक्शंस, भाग-1' की भूमिका और 'कॉरेसपॉण्डेसेज ऑफ दी कॉलेज ऑफ फोर्ट विलियम' में संकलित प्राइस का पत्र इस बात का प्रमाण है कि भाषा के रूप में हिंदी को स्वीकृति प्रदान कराने में फोर्ट विलियम कॉलेज का क्या योगदान रहा -

हिन्दी को आधुनिक अर्थों में ग्रहण किया गया।

हिन्दुस्तानी से अधिक वरीयता हिन्दी को मिली।

कम्पनी के अधिकारियों का ध्यान प्रशासन और उच्च वर्ग की हिन्दुस्तानी से हटाकर जनसामान्य की भाषा की ओर करने का प्रयास।

हिंदी-हिंदुस्तानी के संबंध में वैज्ञानिक विवेचन

हिंदी-हिन्दुस्तानी व्याकरण का आधार ब्रजभाषा को नहीं, बल्कि खड़ी बोली को माना।

'फोर्ट विलियम कॉलेज' अपने अस्तित्व को बनाए और बचाए रखने के राजनैतिक उठा-पटक से भरा दास्तान है। फोर्ट विलियम कॉलेज लॉर्ड बेलेजली के अग्रिम पहल का परिणाम है। बतौर भाषा वह भी हिन्दी भाषा को स्थायित्व रूप देने में महती भूमिका फोर्ट विलियम कॉलेज और गिलक्रिस्ट, विलियम प्राइस तथा अन्य सहयोगियों की रही। ज्ञातव्य है कि जॉन गिलक्रिस्ट के दौर को अकादमिक दृष्टि से फोर्ट विलियम कॉलेज का स्वर्ण युग कहा गया।

कई विवाद और विरोधों के बावजूद फोर्ट विलियम कॉलेज 1800 ई. से फरवरी 1854 ई. तक के अपने समयकाल को पूरा करने में सफल रहा। किंतु 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स की आग में समय-समय पर तपना और अंत में उसे भस्म होना पड़ा और उसके भस्म हुए राख की ढेर पर 'बोर्ड ऑफ एग्जामिनर्स' की नींव रखी गयी।

उल्लेखनीय है कि भाषा के रूप में हिन्दी की विकासयात्र शुरु हो चुकी थी। पत्र-पत्रिकाओं, नित नवीन रचनाओं के माध्यम से हिन्दी अपना रूप दिन-प्रतिदिन गढ़ती जा रही थी... अतः कहा जा सकता है कि विकास की यात्र खत्म नहीं होती बस! उसका स्वरूप बदलता है।

'मैं सब बोलता हूं ज़रा-ज़रा

जब बोलता हूं हिन्दी'

संदर्भ

1. डेविड कॉफ, ब्रिटिश ओरिएंटलिज्म एंड बंगाल रेनेसां, फर्मा के.एल. मुखोपाध्याय, कलकत्ता, 1969, पृ. 5
2. शेखर बंद्योपाध्याय (अनुवाद - नरेश नदीम, पलासी से विभाजन तक, ओरिएंट लॉन्गमैन प्राइवेट लिमिटेड,

2007, पृ. 43

3. एशियाटिक रिसर्चेज ऑर ट्रांजैक्शंस ऑफ दी सोसाइटी इंस्टीट्यूटेड इन बंगाल फॉर इन्क्वायरिंग इनटू दी हिस्ट्री एंड एंटीक्वीटीज, दी आर्ट्स साइंसेज एंड लिटरेचर ऑफ एशिया, भाग-1, भारत भारती ओरिएंटल पब्लिशर्स एंड बुक सेलर्स, दुर्गा कुंड, वाराणसी, पृ. vii (अनुवाद-शीतांशु)
4. ओ.पी. केजरीवाल, भारत के अतीत की खोज, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009, प्रस्तावना से।
5. वही
6. एशियाटिक रिसर्चेज ऑर ट्रांजैक्शंस ऑफ दी सोसाइटी इंस्टीट्यूटेड इन बंगाल फॉर इन्क्वायरिंग इनटू दी हिस्ट्री एंड एंटीक्वीटीज, दी आर्ट्स साइंसेज एंड लिटरेचर ऑफ एशिया, खंड-4, चतुर्थ संस्करण (फ्रॉम दी कैलकटा एडिशन), लंदन, 1807, पृ. 117
7. हिन्दी अनुवाद उद्धृत - लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय (1800-1954), इलाहाबाद विश्वविद्यालय प्रकाशन, इलाहाबाद, 1947, परिशिष्ट से, पृ. 180
8. केदारनाथ सिंह की कविता

सहायक पुस्तक

1. कम्पनी राज और हिन्दी (सन्दर्भ: फोर्ट विलियम कॉलेज) - शितांशु प्रथम संस्करण-2018, राजकमल प्रका_ शन
2. साहित्य चिंतन, डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, राजस्थान प्रेस

□□□

---

1. शोधार्थी हिन्दी विभाग मिजोरम विश्वविद्यालय, मिजोरम मो.- 8447747603 ईमेल: jhaprabhanjan89@gmail.com

2. शोध-निर्देशक आचार्य, हिंदी विभाग, मिजोरम विश्वविद्यालय, मिजोरम आईजोल, मिजोरम-796004 ईमेल: sanjaykumarmzu@gmail.com

संपादक
डॉ. गिरिराजशरण अग्रवाल
डॉ. मीना अग्रवाल

ISSN 0975-735X

UGC APPROVED CARE LISTED JOURNAL

शोध दिशा

61

शोध दिशा

ISSN 0975-735X

विश्वस्तरीय शोध-पत्रिका

केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा से अनुदान प्राप्त

UGC APPROVED CARE LISTED JOURNAL

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा मान्यता प्राप्त शोध पत्रिका

शोध अंक 61/5 जनवरी-मार्च 2023 400.00 रुपए

संपादकीय कार्यालय

हिंदी साहित्य निकेतन, 16 साहित्य विहार,
बिजनौर 246701 (उ॰प्र॰)
फोन : 0124-4076565, 09557746346
ई-मेल : shodhdisha@gmail.com
वैब साइट : www.hindisahityaniketan.com

क्षेत्रीय कार्यालय

हरियाणा

डॉ॰ मीना अग्रवाल
ए-402, पार्क व्यू सिटी-2 सोहना रोड,
गुड़गाँव (हरियाणा)

दिल्ली एन॰सी॰आर॰

डॉ॰ अनुभूति
सी-106, शिवकला अपार्टमेंट्स
बी 9/11, सेक्टर 62, नोएडा
फोन : 09958070700

(सभी पद मानद एवं अवैतनिक हैं।)

संपादक
डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल
07838090732

प्रबंध संपादक
डॉ॰ मीना अग्रवाल

संयुक्त संपादक
डॉ॰ शंकर क्षेम
डॉ॰ प्रमोद सागर

उपसंपादक
डॉ॰ अशोककुमार
09557746346
डॉ॰ कनुप्रिया प्रचण्डिया

कला संपादक
गीतिका गोयल/ डॉ॰ अनुभूति

विधि परामर्शदाता
अनिलकुमार जैन, एडवोकेट

आर्थिक परामर्शदाता
ज्योतिकुमार अग्रवाल, सी॰ए॰

शुल्क

आजीवन (दस वर्ष): छह हजार रुपए
वार्षिक शुल्क : एक हजार रुपए
यह प्रति : चार सौ रुपए

प्रकाशित सामग्री से संपादकीय सहमति आवश्यक नहीं है। पत्रिका से संबंधित सभी विवाद केवल बिजनौर स्थित न्यायालय के अधीन होंगे। शुल्क की राशि 'शोध दिशा' बिजनौर के नाम भेजें। (सन् 1989 से प्रकाशन-क्षेत्र में सक्रिय)

स्वत्वाधिकारी, मुद्रक, प्रकाशक डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल द्वारा श्री लक्ष्मी ऑफसैट प्रिंटर्स, बिजनौर 246701 से मुद्रित एवं 16 साहित्य विहार, बिजनौर (उ॰प्र॰) से प्रकाशित। पंजीयन संख्या : UP HIN 2008/25034

संपादक : डॉ॰ गिरिराजशरण अग्रवाल

अनुक्रम

कौसानी चाय बागान में कार्यरत महिला श्रमिकों की कार्यदशाओं का एक समाजशास्त्रीय अध्ययन/ **कु॰ सावित्री, डॉ॰ एम॰पी॰ सिंह** 19

पैनखंडा क्षेत्र की मुखौटा नाट्य-परंपरा/ **केतन तिवारी, भाष्करानंद पंत** 25

कहानी संग्रह 'वह एक पल' में आधुनिकताबोध से उपजे विविध आयाम/ **जितेंद्र शर्मा, डॉ॰ कृष्णा देवी** 31

महासमर में नीति का स्वरूप, गीता के उपदेश एवं आधुनिक परिप्रेक्ष्य का अध्ययन/ **डॉ॰ स्नेहलता निर्मलकर, कौस्तुभ पांडेय** 36

संजीव के उपन्यासों की भाषा/ **धर्मेन्द्र कुमार** 41

लोक-जीवन और मैला आँचल/ **मनीष कुमार भारती** 45

उच्च माध्यमिक स्तर के सहशिक्षा विद्यालय एवं बालिका विद्यालयों में अध्ययनरत बालिकाओं के जीवन कौशल का तुलनात्मक अध्ययन/ **डॉ॰ भावेश कुमार सिंहवाल, मिनाक्षी जान्दु** 51

हिंदी भाषा विमर्श और महावीरप्रसाद द्विवेदी/ **प्रभंजन कुमार झा, प्रो॰ संजय कुमार** 57

मीराबाई के पदों में संगीत : एक अध्ययन/ **डॉ॰ सरिता नेगी** 61

नासिरा शर्मा की 'मेरी प्रिय कहानियाँ' में सांप्रदायिक सद्भावना/ **डॉ॰ पठान रहीम खान** 67

भगवानदास मोरवाल के उपन्यास 'काला पहाड़' में लोक जीवन का स्वरूप/ **सुकेश कुमारी, प्रो॰ सुचित्रा मालिक** 72

हिंदी और मराठी संतकाव्य में मनोविकार चिंतन/ **डॉ॰ गजानन पोलेनवार** 78

गोंडी बोली-भाषा : एक अध्ययन/ **आकांक्षा बांगर, डॉ॰ गजानन पोलेनवार** 84

मैत्रेयी पुष्पा के कथा-साहित्य में नारी-शोषण/ **सुमन देवी** 90

समकालीन कहानियों में वृद्धजन संघर्ष/**डॉ॰ जोयिस टॉम** 94

समकालीन हिंदी नाटकों में नारीवादी विमर्श/ **डॉ॰ पंडित बन्ने** 99

काला पादरी उपन्यास का वैशिष्ट्य/ **जीत कौर** 103

कालजयी ढेला : अंबालिका से आम्रपाली तक/ **डॉ॰ माधुरी जोशी** 108

प्राचीन एवं आधुनिक गैरवैदिक चिंतन पद्धति: एक विश्लेषण/**सूरज प्रकाश बडत्या** 112

दीनदयाल अंत्योदय योजना-(ग्रामीण आजीविका मिशन) महिलाओं के लिए एक वरदान/ **डॉ॰ बलकार सिंह** 122

आधुनिक भारतीय चित्रकार जगदीश स्वामीनाथन का संक्षिप्त अध्ययन/ **शालिनी/डॉ॰ अलका तिवारी** 129

दुष्यंत कुमार के गीतों में प्रेम निरूपण/ **डॉ॰ अनीता** 132

हिंदी दलित नाट्य परंपरा में माता प्रसाद का स्थान/

ISSN 0975-735X

हिंदीभाषा विमर्श और महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रभंजन कुमार झा, शोधार्थी, हिंदी विभाग
मिजोरम विश्वविद्यालय, मिजोरम
प्रो॰ संजय कुमार, आचार्य हिंदी विभाग
मिजोरम विश्वविद्यालय आइजोल, मिजोरम

करत करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत जात के सिल पर परत निशान।

यूँ तो हिंदी खड़ीबोली के प्रथम प्रयोगकर्ता के रूप में अमीर खुसरो प्रसिद्ध है। लेकिन हिंदी भाषा को गति नवजागरण के उपरांत ही मिल पाई, जिसे साहित्यिक परंपरा से अनवरत रूप से जोड़ने का श्रेय भारतेंदु हरिश्चंद्र को जाता है। नवजागरण अर्थात् वह दौर जब भारतीय जनता सत्ता और सत्ता के दोहरे चक्र से वाकिफ हो चुकी थी कि यह विपरीत परिस्थिति ईश्वर द्वारा नहीं अपितु मनुष्य द्वारा निर्मित है। भारत में नवजागरण 1857 के स्वाधीनता संग्राम को मानना गलत नहीं हो जिसमें भारतीय जन के बिखरे स्वर जरूर सुनाई पड़ते हैं किंतु इससे उनकी चेतनावस्था का परिचय भी मिलता है।

1857 का स्वाधीनता संग्राम के मूल में ब्रिटिश राजसत्ता के अनाचार और अत्याचार के प्रति विद्रोह शामिल है। सामंत वर्ग का सशक्त होना, पूँजीवादी व्यवस्था का काबिज होना, यह सब ब्रिटिश कंपनी की नीति में आरंभ से रहा है, जिसके परिणामस्वरूप सामंतों का आम कृषक वर्ग पर शोषणचक्र कसता चला गया। इसके अतिरिक्त कसाव भार की प्रतिक्रिया स्वाधीनता संग्राम के रूप में फलीभूत होती है।

'नवजागरण 1857 के स्वाधीनता-संग्राम से आरंभ हुआ। यह भारतेंदुयुग में और भी व्यापक बना। उसकी साम्राज्य-विरोधी, सामंत विरोधी प्रवृत्तियाँ द्विवेदीयुग में और पुष्ट हुईं। फिर निराला के साहित्य में कलात्मक स्तर पर तथा उनकी विचारधारा में ये प्रवृत्तियाँ क्रांतिकारी रूप में व्यक्त हुईं।'[1]

रामविलास शर्मा के उक्त कथन से स्पष्ट होता है कि साहित्यिक क्षेत्र में नवजागरण का बीजवपन भारतेंदुयुग में हुआ, जिस युग के प्रवर्तक स्वयं भारतेंदु हरिश्चंद्र रहे। भारतेंदु लगातार पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से ब्रिटिश राजसत्ता के शासन और भारतीय जन की बुरी वृत्ति के प्रति सामान्यजन के भीतर चेतना जाग्रत करने का कार्य करते रहते थे। 26 फरवरी, 1874 की कविवचन सुधा में उन्होंने लिखा–'क्या यह अनीति नहीं है कि अनुमान दो सौ वर्ष हुए, इनका अधिकार इस देश में है। इन्होंने हमारे धनधान्य की वृद्धि में कोई उपाय नहीं किया और केवल अपनी भाषा को सिखाया और सब व्यापार और धन सब अपने हस्तगत किया, क्या यह खेद की बात नहीं है कि हमको कला-कौशल से विमुख रखा और आप स्वतः व्यापारी बनकर सब देशभर का धन और धान्य अपने देश में ले गए।'[2]

9 मार्च, 1874 की 'कविवचन-सुधा में हरिश्चंद्र कहते हैं–'कपड़ा बनाने वाले, सूत निकालनेवाले, खेती करनेवाले आदि सब भीख माँगते हैं–खेती करनेवालों की यह दशा है कि

ISSN 0975-735X

लँगोटी लगाकर हाथ में तुंबा ले भीख माँगते हैं, और जो निरुद्यम हैं, उनको तो अन्न की भ्रांति है।'[3]

लिहाजा भारत की बिगड़ी अर्थव्यवस्था और उससे उत्पन्न विडंबनापूर्ण भारतीय जन की स्थिति, इतिहास के पृष्ठों पर सामान्य कथन बन सामने आते हैं। ऐसे ही समय में महावीरप्रसाद द्विवेदी का अवतरण साहित्यिक फलक पर होता है, जहाँ संपूर्ण भारतीय जन को एकता के सूत्र में बाँधने की आवश्यकता बनी हुई थी। 1857 के स्वाधीनता संग्राम के असफल होने के कारणों में से सबसे प्रमुख संप्रेषणीयता की कमी को माना गया। हिंदी खड़ीबोली को उस सूत्र के रूप में अपनाया गया जो भारतीय एकता को बनाने में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका दर्ज करेगी। हिंदी खड़ीबोली को परिष्कृत और परिनिष्ठित रूप प्रदान करने का श्रेय महावीरप्रसाद द्विवेदी को जाता है। सरस्वती पत्रिका और महावीरप्रसाद द्विवेदी का नाम एक-दूसरे से अंतर्संबंधित है।

भारत के राष्ट्रीय नवजागरण का संबंध सामान्यत: राजा राममोहन राय से जोड़ा जाता है। हो सकता है, बंगाल के लिए यह सही हो। आवश्यक नहीं कि हर प्रदेश में वैसी ही प्रक्रिया घटित हुई हो। द्विवेदीजी अँग्रेजी को शिक्षा का माध्यम बनाने के प्रबल विरोधी थे। वह बुद्धिवाद और वैज्ञानिक विचार-पद्धति के समर्थक थे और रहस्यवाद के विरोधी थे। वह भारत के उद्योगीकरण के पक्षपाती थे। चरखे-करघे के आधार पर भारतीय अर्थतंत्र पुराने ढंग से गठित हो, इसके वह कायल न थे। उनके लेखन के अध्ययन से विदित होता है कि हिंदी नवजागरण की अपनी विशेषताएँ हैं, वह बंगाल या गुजरात के नवजागरण से भिन्न है। ये विशेषताएँ भारतेंदु-युग में भी मिलती हैं। द्विवेदीजी की युगांतकारी भूमिका यह है कि उन्होंने वैज्ञानिक ढंग से अनेक समस्याओं का विवेचन गहराई से किया।'[4] जनवरी 1908 में द्विवेदी जी ने एक लेख लिखा–'भारतीय भाषाएँ और अँग्रेज'। (ये सब लेख साहित्यालाप में संकलित हैं) 'अँग्रेज लोग इस बात पर अक्सर दिल्लगी उड़ाया करते हैं कि हिंदुस्तानियों को अच्छी अँगरेजी लिखना और बोलना नहीं आता। अँगरेजी अखबारों में बहुधा 'बाबू इंगलिश' अर्थात् बाबू लोगों की अँगरेजी की दिल्लगी रहती है। अँगरेजी के समान अपूर्ण, अनियमित और उच्चारण-नियम-हीन विदेशी भाषा में यदि इस देशवाले अँगरेजों ही की वैसी विज्ञता न प्राप्त कर सके तो विशेष आश्चर्य की बात नहीं। आश्चर्य की बात तो यह है कि अँगरेजों में आज तक हिंदीभाषा का एक भी अच्छा विद्वान नहीं हुआ, जो विद्वान माने जाते हैं, वे भी हिंदी लिखते घबराते हैं। अँगरेजों का इस देश से संबंध हुए दो सौ वर्ष हो गए, परंतु इतने दिनों में कितने अँगरेजों ने हिंदुस्तानी भाषा में लिख-पढ़ लेने लायक विज्ञता प्राप्त की?'[5]

सरस्वती के लेखों में भारतीय भाषाओं के प्रति घृणा के इस भाव का बार-बार उल्लेख हुआ है। दिसंबर 1919 के अंक में कामताप्रसाद गुरु का लेख–'विदेशी भाषा का प्रभाव' शीर्षक से छपा जिसमें स्पष्ट कहा गया कि क्यों विदेशी भाषा के प्रति इतनी आसक्ति, इसके ज्ञान होने पर गौरवान्वित अनुभूत करना और इस अँग्रेजी भाषा के ज्ञान से अनभिज्ञ लोगों को लज्जित करना अपेक्षित हो जाता है। हिंदी भाषा को लेकर ऐसे प्रश्न यदा-कदा उठाए जाते रहे। कभी फारसी तो कभी उर्दू भाषा विवाद में हिंदी को घेर अँग्रेजी अपनी महत्ता कायम करने पर काबिज है।

फारसी और हिंदी भाषा के प्रयोग को लेकर हुए अंतर्विरोध सरस्वती पत्रिका में लिखे द्विवेदी के लेख से जाना जा सकता है।

'हिंदी भाषा और उसका साहित्य' निबंध में द्विवेदी फारसी से हिंदी के अंतर्विरोध को स्पष्ट रूप से सामने रखने का प्रयास करते हैं–'1600 ई० के पहले जो मुसलमान कवि हुए हैं, उन्होंने हिंदी ही में कविता की है; फारसी के छंदशास्त्र के अनुकूल प्राय: एक भी छंद उन्होंने नहीं लिखा।

ISSN 0975-735X

जब से टोडरमल ने लगान संबंधी नए नियम प्रचलित किये और हिंदू अधिकारियों को फारसी पढ़ने के लिए विवश किया, तभी से फारसी शब्द हमारी लिखित भाषा और हमारी बोली में अधिकता से प्रयुक्त होने लगे। विद्वानों का मत है कि पहले-पहल मुसलमान फारसी मिली हुई हिंदी बहुत कम बोलते थे। परंतु जब से हिंदुओं ने फारसी पढ़ना आरंभ किया और बोलचाल में वे फारसी शब्द प्रयोग करने लगे तब से मुसलमान भी हिंदुओं की उस ओर प्रवृत्ति देख उसी प्रकार की भाषा अधिक प्रयोग में लाने लगे। इससे यह फल निकला कि फारसी मिली हुई हिंदी (अर्थात् उर्दू) की उत्पत्ति में पहले-पहल हिंदुओं की भी सहायता रही है।'[6] ('साहित्यालाप' तथा सरस्वती, फरवरी-मार्च, 1903)

1917 में लिखे हुए द्विवेदी जी के लेख 'काउंसिल में हिंदी'–'हिंदी (देवनागरी) लिपि में जो अपने विचार व्यक्त/प्रकट करे, वह गँवार, नवाब साहब ही ऐसा कह सकते हैं। यदि यही बात है तो बिहार, मध्य प्रदेश और मध्य भारत में जितने नाजिर, पेशकार, महाफिज दफ्तर, वकील, मुख्तार, मास्टर और इंस्पेक्टर कचहरियों और स्कूलों में देवनागरी लिपि लिखते हैं, वे सभी गँवार ठहरे!!! हिंदी लिपि लिखने वालों को हमारे मुसलमान भाई किसी समय पहले शायद गँवार समझते रहे हों, पर अब तो वे गँवार नहीं समझे जाते। अतएव आपको भी अब पुराने विचार बदल डालने चाहिए।'[7]

इसी प्रकार द्विवेदी जी हिंदी और उर्दू अंतर्विरोध को समझाने का प्रयास कर हिंदी भाषा को स्थापित करते हैं–'कचहरी के कर्मचारी अर्जीनवीस, मुख्तार और वकीलों के मुहर्रिर लड़कपन से यही भाषा और यही लिपि लिखते आते हैं। यही लोग इस भाषा और इस लिपि के विशेष प्रेमी हैं। पर ये लोग भी अब हिंदी सीखते जाते हैं, और आशा है अगली मर्दुम शुमारी में हिंदी भाषा और नागरी लिपि के प्राचाराधिक्य के और भी अधिक प्रमाण मिलेंगे।'[8]

महावीरप्रसाद द्विवेदी उर्दू को हिंदी से भिन्न नहीं मानते थे–'हिंदी की एक शाखा हिंदी से अलग होकर और फारसी के शब्दों को अपना साथी बनाकर, उसी भाषा के छंदोरूपी वस्त्र धारण करके पद्य के आकार में प्रकट हुई।' आगे वह विवेचन करते हुए लिखते हैं–'उर्दू के संबंध में हमको, यहाँ पर, कुछ विस्तार करना पड़ा। यह विषय विचारणीय था; इसीलिए हिंदी साहित्य के अंतर्गत हमको यहाँ पर इतना कहना पड़ा। उर्दू का साहित्य भी एक प्रकार, हिंदी का साहित्य है। अतएव आगे चलकर, हमको इस साहित्य पर अभी कुछ और लिखना पड़ेगा।'[9]

हिंदी भाषा को जनभाषा के रूप में स्थापित करते हुए द्विवेदी कहते हैं–'उर्दू चाहे जितनी सरल हो, उसमें कुछ-न-कुछ फारसी शब्दों का मेल होता ही है। इन प्रांतों के ग्रामीणों और साधारण मनुष्य संस्कृत के कम कठिन शब्द चाहे समझ भी लें, परंतु फारसी को वे नहीं समझ सकते। क्योंकि फारसी विदेशी भाषा है; और संस्कृत, फिर भी, इस देश की भाषा है।'[10]

भाषाई अंतर्विरोध की दृष्टि से हिंदी खड़ीबोली/भाषा विवादों के घेरे में अपने शुरुआती दौर से रही। जहाँ इसे मात्र हिंदू की भाषा समझा या कुछ क्षेत्र विशेष की भाषा के रूप में अपनाया गया कारण स्पष्ट है हिंदी से पहले साहित्यिक फलक पर अपना स्थान बनाएँ हुए भाषाएँ मौजूद थी–बांग्ला, ब्रज और अन्य जनपदीय उपभाषाएँ। 'हिंदी' संप्रेषण के सशक्त माध्यम भाषा के रूप में सामने आती है। इस भाषा की आवश्यकता पर बल संभवत: स्वाधीनता संग्राम में प्रतिनिधित्व हिंदी क्षेत्रों के कारण दिया गया, जो भारत के बहुल आबादी का हिस्सा रहे। द्विवेदी हिंदी को सीमित नहीं बल्कि भाषा की दृष्टि से विस्तृत फलक पर देखने के पक्षधर थे यही कारण है कि उन्होंने

ISSN 0975-735X

अरबी-फारसी, उर्दू, अँग्रेजी और जनपदीय उपभाषाओं के शब्दों से हिंदी भाषा को बचाने का प्रयास नहीं किया, जिसका प्रौढ़ रूप केदारनाथ सिंह की कविता में देखा जा सकता है–

मेरा अनुरोध है...
भरे चौराहे पर करबद्ध अनुरोध
कि राज नहीं भाषा
भाषा... भाषा... सिर्फ भाषा रहने दो
मेरी भाषा को
इसमें भरा है
पास-पड़ोस और दूर-दराज की
इतनी आवाजों का बूँद-बूँद अर्क,
कि मैं जब भी इसे बोलता हूँ
तो जैसे कहीं गहरे
अरबी-तुर्की बांग्ला तेलुगू...
यहाँ तक कि एक पत्ती के हिलने की आवाज भी
मैं सब बोलता हूँ जरा-जरा
जब बोलता हूँ हिंदी।[11]

संदर्भ

1. महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, चौथा छात्र संस्करण-2021, पृ॰ 19
2. वही, पृ॰ 13
3. वही, पृ॰ 13
4. वही, पृ॰ 19
5. वही, पृ॰ 213-214
6. वही, पृ॰ 217
7. वही, पृ॰ 218
8. वही, पृ॰ 220
9. वही, पृ॰ 230
10. वही, पृ॰ 231
11. केदारनाथ सिंह की कविता

303, तीसरा टावर, चौहान अपार्टमेंट
आदर्श एनक्लेव, बाबा कॉलोनी
बुराड़ी, दिल्ली 110084
मो॰ 8447747603
jhaprabhanjan89@gmail.com

शोधार्थी का विवरण

नाम	:	**प्रभंजन कुमार झा**
शिक्षा	:	पीएच.डी.
विभाग	:	हिंदी
शोध प्रबंध का शीर्षक	:	**'औपनिवेशिक काल में हिंदी भाषा संबंधी विमर्श'**
प्रवेश शुल्क के भुगतान की तिथि	:	18.07.2018
शोध प्रस्ताव की संस्तुति	:-	

1) विभागीय शोध समिति की तिथि : 27.03.2019
2) बी.ओ.एस. की तिथि : 15.04.2019
3) स्कूल बोर्ड की तिथि : 08.05.2019

मिज़ोरम विश्वविद्यालय पंजीयन संख्या	: 1802352
पीएच.डी. पंजीयन संख्या	: MZU/Ph.D./1276 of 18.07.2018
समयावधि विस्तार पत्र संख्या	: N/A

(प्रो. सुशील कुमार शर्मा)
अध्यक्ष
हिंदी विभाग
मिज़ोरम विश्वविद्यालय, आईजोल

शोध-प्रबंध सार

ABSTRACT

औपनिवेशिक काल में हिंदी भाषा संबंधी विमर्श

AUPANIVESHIK KAAL MEIN HINDI BHASHA SAMBANDHI VIMARSH

[मिजोरम विश्वविद्यालय, आईजोल के हिंदी विषय में डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी (पीएच.डी.) की उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध का सारांश]

AN ABSTRACT SUBMITTED IN PARTIAL FULFILLMENT OF THE REQUIREMENTS FOR THE DEGREE OF DOCTOR OF PHILOSOPHY

प्रभंजन कुमार झा

PRABHANJAN KUMAR JHA
MZU REGN. NO: 1802352
Ph.D. REGN. NO.: MZU/Ph.D./ 1276 of 18.07.2018

हिंदी विभाग
मानविकी एवं भाषा संकाय
DEPARTMENTOF HINDI
SCHOOL OF HUMANITIES AND LANGUAGES

जून, 2023

JUNE, 2023

औपनिवेशिक काल में हिंदी भाषा संबंधी विमर्श

AUPANIVESHIK KAAL MEIN HINDI BHASHA SAMBANDHI VIMARSH

प्रस्तुतकर्ता

प्रभंजन कुमार झा

हिंदी विभाग

By

PRABHANJAN KUMAR JHA

DEPARTMENTOF HINDI

शोध-निर्देशक

प्रो. संजय कुमार

SUPERVISOR

PROF. SANJAY KUMAR

मिजोरम विश्वविद्यालय, आईजोल के मानविकी एवं भाषा संकाय के अंतर्गत

हिंदी विषय में डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी (पीएच.डी.) की उपाधि के

लिए अपेक्षित आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध का सारांश

An Abstract submitted in partial fulfillment of the requirement of the Degree of Doctor of Philosophy in Hindi of Mizoram University, Aizawl

शोध प्रबंध का सारांश / ABSTRACT

भारत के संदर्भ में हिंदी भाषा संबंधी विवाद मुख्य रूप से अंग्रेजों की देन है। यद्यपि अंग्रेज शासकों के भारत पर शासन से पहले भी यहाँ भाषा विवाद की स्थिति विद्यमान थी, किंतु उसमें इतनी कटुता भीषणता एवं सामाजिक वैमनस्य नहीं था। मुस्लिम शासन काल में शासकों ने अपनी भाषा जरूर आरोपित की थी, किंतु उन्होंने भारत के स्थानीय भाषाओं की अंग्रेजों के समान उपेक्षा नहीं की थी। मुसलमान शासकों ने भारत की स्थानीय भाषाओं को कमोवेश संरक्षित एवं प्रोत्साहित करने का प्रयास किया था। नुसरतशाह द्वारा बांग्ला भाषा को प्रोत्साहित करना और अकबर तथा अन्य मुगल शासकों के दरबार में हिंदी कवियों की उपस्थिति इस बात की पुष्टि करती है। अबुलफ़ज़ल, दाराशिकोह तथा मोहसिनफ़ानी जैसे उदार मुस्लिम विद्वानों ने भारत के बहुसंख्य हिंदू लोगों के जीवन, दर्शन एवं धर्म में गहरी रूचि ली तथा इस्लामी दुनियाँ को हिंदुओं से परिचय कराया। अंग्रेजों के भारत पर शासन स्थापित हो जाने के बाद यह प्रक्रिया धीरे-धीरे टूट गयीअंग्रेजों ने शासकीय सुविधा के लिहाज से यथास्थिति को लगभग बनाए रखा किंतु स्वयं को श्रेष्ठ एवं भारतीय ज्ञान को दोयम समझने की भावना ने उन्हें भारतीय धर्म, साहित्य और भाषा के प्रति अनुदार बना दिया था।

उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में प्राच्यवादी एवं आंग्लवादी विद्वानों के बीच विवाद का आधार ठोस नहीं था, इसमें केवल ऊपरी तौर पर ही भारत की भाषा-समस्या का

विश्लेषण किया गया था। टॉम्सन जैसे प्रशासकों ने पश्चिमोत्तर प्रांत के भाषा विवाद को सही रूप में समझा अवश्य था, लेकिन ईस्ट इंडिया कम्पनी की सरकार भाषा-नीति में कोई क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं करना चाहती थी। चार्ल्सवुड डिस्पैच ने भाषा विवाद में देशी भाषाओं के महत्त्व को स्थापित अवश्य किया था, किंतु उसने देशी भाषाओं के आपसी विवाद को सुलझाने में कोई भूमिका नहीं निभायी थी।

यद्यपि हिंदी-उर्दू विवाद के बीज जॉन गिलक्राइस्ट और दूसरे अंग्रेज लेखकों के कार्यों में दिखाई देते है, परंतु इसका मुखर रूप 1857 ई. की क्रांति के बाद प्रकट हुआ। आरंभ में विवाद का मुख्य मुद्दा फ़ारसी लिपि और अरबी-फ़ारसी के कठिन शब्दों के इस्तेमाल तक ही सीमित था किंतु लम्बे समय तक लिपि को भाषा से अलग करके नहीं देखा जा सका, इसलिए लिपि का विवाद अंततः भाषा का विवाद बन गया।

हिंदी-उर्दू के उद्भव के कई सौ वर्षों बाद तक उनमें कोई आपसी द्वंद्व नहीं था। हिंदी हिंदुओं के साथ और उर्दू मुसलमानों के साथ नत्थी नहीं थी और न ही इसे अलग-अलग कौमी जवानों की तरह लिया जाता था। हिंदी और उर्दू की लिपि अलग-अलग थी, किंतु लिपि के कारण भाषा में कोईदरार पैदा नहीं हुई थी। ब्रिटिश सरकार की कोशिशों से हिंदू-मुस्लिम धर्मों में परस्पर साम्प्रदायिकता के अनेक स्तर पैदा हुए जिनमें समय के साथ विस्तार एवं गहरायी आयी। हिंदू-उर्दू विवाद भी उन्हीं स्तरों में से एक है।

1857 ई. के प्रथम स्वाधीनता संग्राम (विद्रोह) में हिंदू और मुसलमानों की एकता एवं मैत्री भाव ने अंग्रेजों को आशंकित कर दिया था। उसके बाद से ब्रिटिश

सरकार ने 'बांटो और राज करो'की नीति के सुनियोजित षड्यंत्र की प्रक्रिया प्रारंभ कर दी थी। यद्यपि 1858 ई. के महारानी विक्टोरिया के घोषणा पत्र में यह आश्वासन दिया गया था कि सरकार किसी भी प्रकार का जाति, धर्म, राष्ट्रीयता तथा वर्ण का भेद-भाव नहीं करेगी, तथापि तथ्य यह है कि हिंदू और मुसलमानों के साथ ब्रिटिश सरकार ने एकसमान व्यवहार कभी नहीं किया। 1857 ई. के विद्रोह में मुसलमानों की भूमिका अग्रगण्य थी, हालांकि हिंदू भी उनके संग-संग ही थे, किंतु विद्रोह के ठीक बाद अंग्रेजी सरकार ने जिस तरह मुसलमानों पर अपना कोप प्रकट किया, सैकड़ों मुसलमानों को सरेआम फांसी दी गई, लेकिन इसके मुखालफत में हिंदू समाज मुखर रूप से सामने नहीं आया। इससे अंग्रेजों को यह विश्वास हो गया कि भले ही हिंदू और मुसलमान एक मकसद के लिए विद्रोह किये हों, किंतु उनमें कुछ बुनियादी अविश्वास की भावना है अतः अंग्रेजों ने यह निष्कर्ष निकाला कि यदि अंग्रेजी सत्ता को भारत में लम्बे समय तक बनाये रखना हैतो हिंदू और मुसलमानों के बीच की एकता को हमेशा खंडित रखना होगा। कालांतर में सैयद अहमद खान के भारतीय राजनीति में आने के बाद मुसलमानों पर विशेष सरकारी अनुकम्पा की नीति अपनायी गयी जो देश के विभाजन (1947 ई.) तक एकाध व्यवधान को छोड़कर अनवरत रूप से चलती रही। हिंदुओं की तुलना में मुसलमानों को राजकीय सेवाओं में अधिक स्थान मिले। मुस्लिम शिक्षा संस्थानों को हिंदुओं के शिक्षा संस्थानों की तुलना में अधिक अनुदान दिया गया, हिंदी की तुलना में उर्दू को अधिक सरकारी संरक्षण प्राप्त हुआ और मुसलमानों के

राजनैतिक महत्त्व को उनकी संख्या के अनुपात से बहुत अधिक महत्त्व दिया गया। परिणामस्वरूप यह स्वाभाविक ही था कि हिंदुओं में आक्रोश की भावना जन्मी और इसी आक्रोश का एक अंग अपनी भाषा की प्रतिष्ठा और राजकीय मान्यता के लिए किया गया उनका आंदोलन था। वास्तव में, मुस्लिम सत्ता की समाप्ति के बाद ब्रिटिश शासन काल में राजभाषा के खाली स्थान को पाने के लिए हिंदी-उर्दू में परस्पर संघर्ष आरंभ हुआ। एक ओर हिंदू जनता मुस्लिम शासन से मुक्ति पाकर उनके सांस्कृतिक अवशेषों से भी स्वयं को मुक्त कर लेना चाहता था, दूसरी ओर मुस्लिम वर्ग अपनी सत्ता के हाथ से निकल जाने पर अंग्रेज शासकों के समीप रहकर उनका प्रश्रय प्राप्त करने की हर संभव कोशिश कर रहा था, ताकि सत्ता की भागीदारी का लाभ उठाया जा सके।

भाषाशास्त्रियों के माध्यम से सरकार ने हिंदी-उर्दू विवाद को उग्र बनाकर हिंदू और मुसलमानों के बीच विभेद बढ़ाने में योगदान दिया था और इस तरह से भाषा के मसले में भी उन्होंने 'बाँटों और राज करो' की नीति का अभ्यास किया था।हिंदी-उर्दू विवाद ने हिंदू और मुसलमानों के मध्य कटुता तो उत्पन्न की ही, साथ-ही-साथ उनमें भाषा के प्रति ब्रिटिश सरकार की ढुलमुल नीति के कारण ब्रिटिश न्यायप्रियता और निष्पक्षता के प्रति संदेह की भावना भी जाग्रत कर दी। इस भाषा विवाद ने दोनों समुदायों में राजनीतिक जागृति को विकसित करने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी थी।18 अप्रैल, 1900 ई. के हिंदी रिजोल्यूशन के पारित होने के बाद मुसलमानों में अंग्रेज शासकों के खिलाफ राजनीतिक आंदोलन करने की भावना का विकास होने लगा

था। भाषा विवाद के कारण दोनों भाषाओं के साहित्यकारों और पत्रकारों ने अपनी-अपनी भाषा के साहित्य और पत्रकारिता को समृद्ध व श्रेष्ठ साबित करने की विशेष परिस्थितियाँ उत्पन्न की।

भारतेंदुयुगीन हिंदी साहित्यकारों एवं पत्रकारों ने उन्नीसवीं सदी के भाषा विवाद में जब हिंदी का पक्ष लिया था, तब हिंदी की स्थिति बहुत कमजोर थीइस काल तक हिंदी साहित्य में दरबारी काव्य परंपरा के अवशेष मौजूद थे। हिंदी गद्य अपनी शैशवकाल की अनिश्चितता से डगमगा रहा था। साहित्य में गद्य और पद्य की भाषा की अनेक शैलियाँ प्रचलित थीं। इस दौर मेंशासकों के द्वारा हिंदी को न तो अदालतों में प्रवेश दिया गया था, न ही सरकारी दफ्तरों में उसे कोई स्थान मिला था। सरकारी सेवाओं में हिंदी का ज्ञान आवश्यक न होने के कारण कोई उसे सीखने का इच्छुक भी नहीं था। फ़ारसी के बाद केवल उर्दू की ही प्रतिष्ठा थी, जिसे ब्रिटिश शासकों ने फ़ारसी का उत्तराधिकारी मान लिया था। उर्दू को समाज में शालीनता और परिष्कार का प्रमाण माना जाता था, इसे देशीय राजभाषा होने का गौरव प्राप्त था, साथ ही उर्दू के साहित्य को उच्च कोटि का माना जाता था। यह आश्चर्यजनक है कि उर्दू में विभिन्न भाषा शैलियों का कोई विवाद नहीं था। उर्दू पढ़ना या बोलना समाज में आदर प्राप्त करने के लिए आवश्यक था, स्वयं अनेक प्रमुख हिंदी साहित्यकार उर्दू प्रशिक्षण के कठिन दौर से गुजर कर इसमें प्रवीणता प्राप्त कर चुके थें। भारतेंदु, हरिश्चंद्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र, श्रीधर पाठक, बालमुकुंद गुप्त, महावीर प्रसाद द्विवेदी आदि

सभी प्रमुख हिंदी साहित्यकार व पत्रकार उर्दू के विद्वान थे और उनमें से प्रायः सभी ने उर्दू में रचनाएँ भी की थीं।

भाषा विवाद के दौरान हिंदी का पक्ष कमजोर करने के लिए यह आरोप लगाये गये थे कि उसमें न तो प्रशासनिक या न्याय की भाषा बनने की क्षमता है और न ही उसमें शिक्षा के लिए उपयोगी पाठ्य-पुस्तकें हैं। हिंदी साहित्य भी साहित्य की अनेक विधाओं में रचनाशून्य है। इनआरोपों को असत्य सिद्धकरना भारतेंदुयुगीन साहित्यकारों ने अपना लक्ष्य बना लिया था। भारतेंदु से लेकर बालमुकुंद गुप्त तक के अनेक हिंदी साहित्यकारों ने अपनी रचना-साधना से हिंदी साहित्य की समृद्धिहीनता के अभाव को समाप्त कर दिया था। पंजाब में हिंदी की प्रतिष्ठा और भाषा विवाद में हिंदी समर्थकों के आंदोलन को आक्रामक बनाने में आर्य समाज ने विशेष भूमिका निभायी। स्वामी दयानंद सरस्वती ने आर्य समाज के उपनियम में हिंदी के प्रचार और आर्य समाजियों में हिंदी के ज्ञान को अनिवार्य कर दिया था। आर्य भाषा और आर्य लिपि को उन्होंने आर्य जाति, आर्य संस्कृति एवं आर्यधर्म से जोड़ दिया था। आर्य समाज के उत्साही कार्यकर्त्ताओं की सेवा से भाषा विवाद में हिंदी की स्थिति बहुत मजबूत हो गयी थी।

भारतेंदुयुगीन हिंदी साहित्यकारों व पत्रकारों पर हिंदू राष्ट्रवाद की भावना को प्रसारित करने का आरोप लगाया जाता है। इसके प्रमाण में अनेक उद्धरणों को भी प्रस्तुत किया जाता है, किंतु इस तथ्य को नज़रंदाज कर दिया जाता है कि इन साहित्यकारों और पत्रकारों ने हिंदू धर्म, हिंदू राष्ट्र, हिंदू जाति, हिंदू संस्कृति और

हिंदुओं की भाषा तथा लिपि की बात किन परिस्थितियों में की थी,वास्तविकता यह है कि अपने ही जन्मभूमि, मातृभूमि, भारतभूमि में सदियों से गुलाम हिंदू अपनी भाषा की उपेक्षा और अपमानउसका देखकर दुखी हो चुके थे। महारानी विक्टोरिया के तथाकथित उदार एवं निष्पक्ष शासन में भीउन्हें अपनी भाषा के माध्यम से अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष करना पड़ा। हंटर आयोग के द्वारा यह स्वीकार करने के बाद भी कि पश्चिमोत्तर प्रांत में हिंदी की मांग अत्यंत प्रबल एवं जायज है; फिर भी सरकार द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में उर्दू को ही प्रचलित रखना तथा उर्दू व अंग्रेजी सुलेख के लिए विद्यालयों में पुरस्कार की व्यवस्था करना, परंतु हिंदी के लिए ऐसी ही व्यवस्था की मांग को अस्वीकार करना; देशी भाषा के रूप में केवल उर्दू को सरकारी मान्यता मिलना, बहुसंख्यक हिंदुओं के ऊपर मुट्ठीभर अंग्रेजों और अल्पसंख्यक मुसलमानों की भाषाओं का थोपा जाना आदि ऐसे कार्य थे जिनसे कोई भी हिंदी भाषी संयत और शांत होकर हिंदी के प्रचलन की बात नहीं कर सकता था। ब्रिटिश शासन द्वारा एकतरफा उर्दू के प्रति पक्षपात और हिंदी के दमन के नक्कारखाने में हिंदी भाषियों की तूती आवाज को कोई नहीं सुन रहा था। ऐसी परिस्थिति में बहरे शासकों तक अपनी बात पहुंचाने के लिए किसी बड़े धमाके की जरूरत थी। यही धमाका हिंदी समर्थकों ने हिंदी आंदोलन को धार्मिक बनाकर किया था।

उन्नीसवीं सदी के अंत में (18 अप्रैल, 1900 ई.) अथक प्रयासों के बाद हिंदी साहित्यकारों व पत्रकारों को हिंदी को राजकीय मान्यता दिलाने में सफलता प्राप्त हुई।

अब नागरिकों को अदालतों तथा सरकारी दफ्तरों में नागरी लिपि में याचिका प्रस्तुत करने का अधिकार मिल गया था। ब्रिटिश सरकारद्वारा फ़ारसी लिपि और नागरी लिपि को न्याय और प्रशासन में एकसमान महत्त्व दिये जाने की दिशा में यह युगांतकारी प्रयास था। वास्तव में इस परिवर्तन का मुख्य कारण यह था कि सरकार की उन्नीसवीं सदी की भाषा विषयक नीति सर्वथा अव्यावहारिक, दोषपूर्ण व असंतुलित थी। एक क्षेत्र की दो प्रमुख भाषाओं में से एक की सर्वथा उपेक्षा की नीति अनवरत जारी नहीं रह सकती थी, कभी-न-कभी इस कृत्रिम व्यवस्था और असंतुलित भाषा-नीति का अंत होना ही था। इसके प्रतिक्रिया में मुस्लिमों द्वारा 'उर्दू डिफेन्स एसोसिएशन' का गठन किया गया जिसका उद्देश्य उर्दू के अधिकारों की रक्षा करना था। हिंदी को अधिकार दिये जाने की बात मुस्लिम समुदाय बर्दास्त नहीं कर पा रहा था। उनके मन में यह डर बैठ गया था कि यह मुसलमानों की भाषा के साथ-साथ उनकी अस्मिता पर आसन्न संकट है। इसके प्रतिक्रिया स्वरूप 1906 ई. में मुस्लिम लीग जैसा अलगाववादी संगठन अस्तित्व में आया, जिसने द्विराष्ट्र के सिद्धांत को प्रचारित कर 1947 ई. में पाकिस्तान के रूप में अपने मंसूबे को अमली जामा पहनाया।

उन्नीसवीं सदी के अंतिम दौर में हिंदी साहित्य में एक अजीब किस्म का विभाजन चल रहा था। विभाजन यह था कि गद्य तो खड़ी बोली में लिखा जाता था, लेकिन पद्य ब्रज भाषा में। तद्युगीन बड़े-बड़े साहित्यकार भी इस विभाजन को अतार्किक नहीं समझते थे, बल्कि वे इसे बिल्कुल उचित औरस्वाभाविक मानते थें।हिंदी

में अयोध्या प्रसाद खत्री पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इस विभाजन की अस्वाभाविकता की ओर ध्यान दिया और इससे हिंदी के साहित्यिक विकास में होने वाली बाधा को पहचाना। अयोध्या प्रसाद खत्री ने ब्रजभाषा कविता को खड़ी बोली हिंदी कविता मानने से इंकार कर दिया। इससे भारतेंदु मंडल के कई बड़े साहित्यकार उनके विरोधी हो गए। अयोध्या प्रसाद खत्री सिर्फ खड़ी बोली में कविता करने की बात नहीं कर रहे थे; वे यह भी कह रहे थे कि उर्दू और हिंदी दोनों एक ही भाषा है, एक ही खड़ी बोली के दो साहित्यिक रूप हैं। इसलिए मुसलमान इस भाषा को एक अलग लिपि (फ़ारसी लिपि) में लिखने का आग्रह छोड़ दें और हिंदू इसमें सिर्फ संस्कृत से शब्द लेने और अरबी-फारसी के न लेने का आग्रह छोड़ दें। दरअसल हिंदी एवं उर्दू तथा देवनागरी एवं फ़ारसी लिपि के विवाद का संबंध साहित्य की अपेक्षा राजनीति से अधिक था, किंतु इसके विपरीत ब्रजभाषा और खड़ी बोली के विवाद का संबंध राजनीति की अपेक्षा साहित्य से अधिक था। भारतेंदु मंडल के रचनाकार कविता की भाषा के लिए ब्रजभाषा को ही उपयुक्त समझ रहे थे, जबकि अयोध्या प्रसाद खत्री की समझ कविता की भाषा के लिए खड़ी बोली को उपयुक्त मानती थी। परिणामस्वरूप दोनों पक्षों में लंबा वाद-विवाद चला, किंतु अयोध्या प्रसाद खत्री को अपनी साझी भाषा-नीति के आंदोलन में पर्याप्त सफलता नहीं मिली। हालांकि आगे चलकर'सरस्वती' के संपादक महावीर प्रसाद द्विवेदी ने हिंदी गद्य और पद्य की एक भाषा खड़ी बोली निर्धारित करने के लिए उल्लेखनीय प्रयास किया। बालकृष्ण भट्ट ने भी अयोध्या प्रसाद खत्री द्वारा प्रस्तावित खड़ी बोली की पांच शैलियों के झुटपुट से निकलकर विभिन्न शैलियों में एकरूपता लाने और एक मानक शैली की आवश्यकता पर बल दिया। वास्तव में

शैलियों की बहुरूपता हिंदी के विकास में एक अवरोध बनती जा रही थी। इसलिए बीसवीं सदी की शुरूआत में हिंदी में भाषा की विभिन्न शैलियों को समाप्त करके मानक हिंदी का विकास किया गया और खड़ी बोली हिंदी पूरे भारत में हिंदी भाषियों की प्रतिनिधि साहित्यिक, शैक्षिक, प्रशासनिक व न्यायिक भाषा हो गयी। अब हिंदी साहित्य में विषय की विविधता दिखायी देने लगी और नवजागरण काल के हिंदी साहित्य ने खड़ी बोली हिंदी के नये कलेवर में आधुनिक भारत के साहित्य में अपनी अलग पहचान बना ली। राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान इस खड़ी बाली हिंदी को ही भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया गया।